विवेक ज्योति
वार्षिक रु. १००, मूल्य रु. १२
वर्ष ५४ अंक १० अक्तूबर २०१६
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)
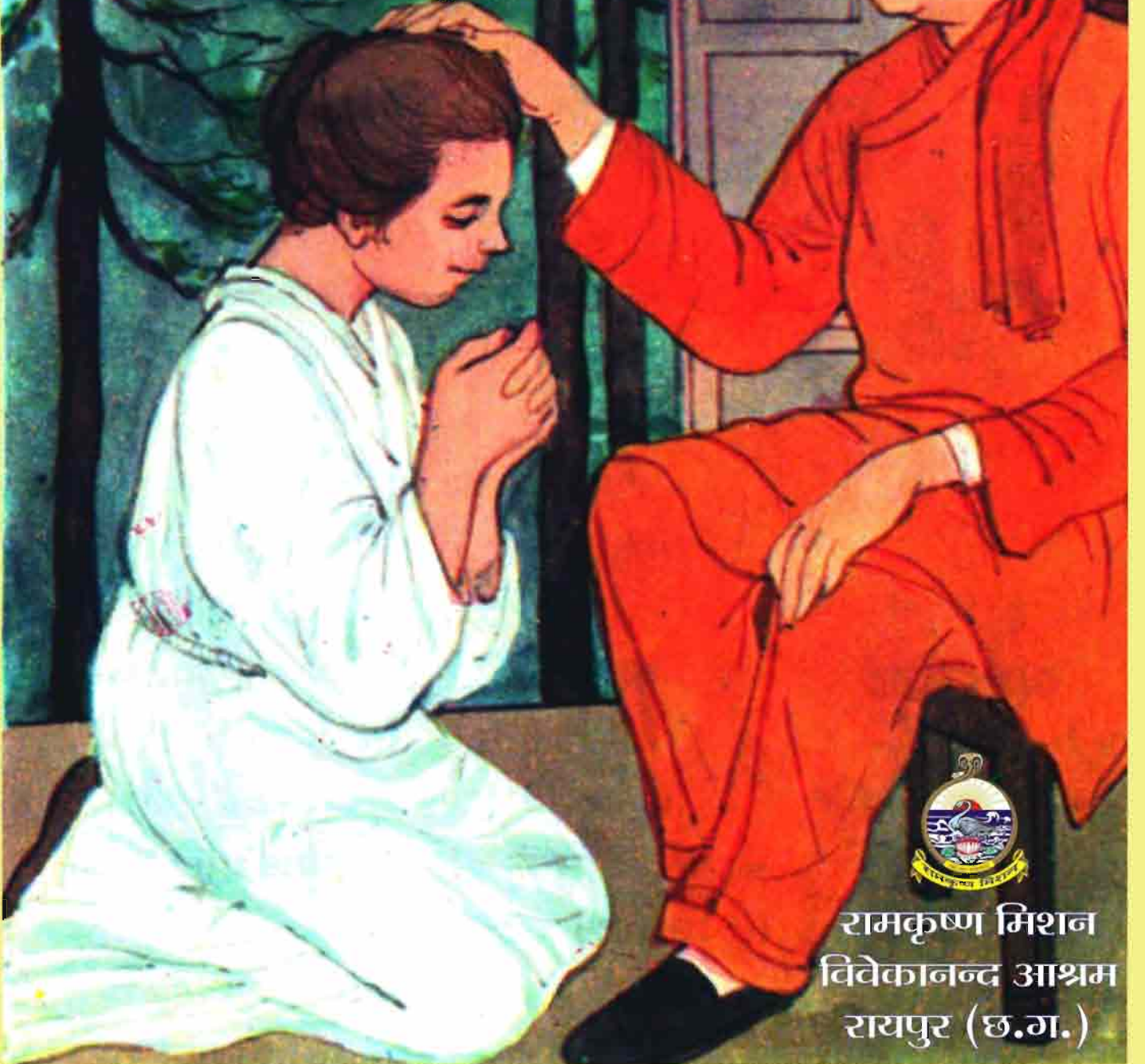
॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २०१६

वर्ष ५४
अंक १०

वार्षिक १००/– **एक प्रति १२/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ४६०/–
१० वर्षों के लिए – रु. ९००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ
अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कराएँ :
सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, **अकाउन्ट नम्बर** : 1385116124
IFSC CODE : CBIN0280804
कृपया इसकी सूचना हमें तुरन्त केवल ई-मेल, फोन, एस.एम.एस. अथवा स्कैन द्वारा ही अपना नाम, पूरा पता, **पिन कोड** एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।
विदेशों में – वार्षिक ३० यू. एस. डॉलर;
५ वर्षों के लिए १२५ यू. एस. डॉलर (हवाई डाक से)
संस्थाओं के लिये –
वार्षिक १४०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ६५०/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)
विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

विवेक-ज्योति स्थायी कोष

दान-दाता	दान-राशि
श्रीमती सर्वेश शर्मा, सुखलिया, इन्दौर (म.प्र.)	१०००/-
श्री रामकृष्ण व्यास, इचलकरंजी, कोल्हापुर (महा.)	२०००/-
श्री गिरधर दास झालानी, इन्दौर (म.प्र.)	११००/-
श्री लक्ष्मीनारायण दास, सुन्दर नगर, रायपुर (छ.ग.)	५०००/-
श्री बच्चेलाल सिंह, सुलतानपुर (उ.प्र.)	१०००/-
श्री आशीष कुमार बॅनर्जी, रायपुर, (छ.ग.)	१०००/-

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

देखें, पृ. ४६७

विवेक-ज्योति पुस्तकालय योजना

क्रमांक	सहयोग-कर्ता	प्राप्त-कर्ता (पुस्तकालय/संस्थान)
२७	श्री आशीष कुमार बेनर्जी, रायपुर (छ.ग.)	सरगुजा विश्वविद्यालय अंबिकापुर (छ.ग.) ४९७००१
२८	श्रीमती सर्वेश शर्मा, इन्दौर (म.प्र.)	शा.पी.जी.डी.के. महाविद्यालय बलौदा बाजार (छ.ग.) ४९३३३२
२९	श्री लक्ष्मणशंकर भेदी, बिलासपुर (छ.ग.)	रेलवे महाराष्ट्र मंडल रामदास नगर (टिकरापारा) बिलासपुर (छ.ग.)
३०	श्री एल. सी. भौमिक, दुर्ग (छ.ग.)	शास. कंगला मांझी महाविद्यालय डोंडी, दल्लीराजहरा, बालोद (छ.ग.)
३१	श्री अनिरूद्ध रामसेवक तिवारी, अमरावती	ग्रंथालय, संत गाडगे बाबा अमरावती विद्यापीठ, अमरावती (महाराष्ट्र)
३२	श्री गिरधर दास झालानी, इन्दौर (म.प्र.)	शास. टी.सी.एल. महाविद्यालय, जांजगीर-चांपा (छ.ग.)
३३	श्री गनपतदास चौधरी, बुरहानपुर (म.प्र.)	आशा निकेतन विद्यालय इन्दिरा कॉलोनी, बुरहानपुर (म.प्र.)
३४	श्री गनपतदास चौधरी, बुरहानपुर (म.प्र.)	सुभाष हाई स्कूल, सुभाष हाई स्कूल कैम्पस, बुरहानपुर (म.प्र.)
३५	श्री गणेश ना. भंडारी, अहमदनगर (महा.)	महाप्रभु वल्लभाचार्य पी.जी. महाविद्यालय, महासमुन्द (छ.ग.)
३६	श्री श.वा. खानखोजे, बिलासपुर (छ.ग.)	अल्शुम्स इनफोटेक कालेज, नगरी, जिला-धमतरी (छ.ग.)
३७	श्री देवेन्द्र सिंह, लखनऊ (उ.प्र.)	चौ. हरबन्स सिंह कन्या डिग्री कालेज, मुजफ्फर नगर (उ.प्र.)
३८	श्री राम कुमार मिश्रा, रायपुर (छ.ग.)	शा. नागार्जुन स्नातकोत्तर विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)
३९	कु. नंदिता सराफ, भिलाई (छ.ग.)	एन.आई.टी. रायपुर कॉलेज, रायपुर (छ.ग.)
४०	श्री गुरु प्रसाद सराफ, भिलाई (छ.ग.)	शास. महाविद्यालय गुरूर, जि. बालोद (छ.ग.)
४१	श्रीमती आरती सराफ, भिलाई (छ.ग.)	शास. शहीद कौशल यादव महाविद्यालय, गुण्डरदेही, बालोद (छ.ग.)
४२	श्री दीपक सुंदरानी, रायपुर (छ.ग.)	सेन्ट्रल लायब्ररी, आई.आई.टी. बॉम्बे, पवई, मुम्बई (महा.)
४३	श्री एम.के. बारके, भोपाल (म.प्र.)	ठा. महाराज सिंह, शा. महाविद्यालय थान खम्हरिया, बेमेतरा (छ.ग.)
४४	डॉ. ए.के. बधोलिया, भोपाल (म.प्र.)	शास. राजमाता विजयाराजे सिंधिया कन्या महाविद्यालय, कवर्धा (छ.ग.)
४५	श्री राम गोपाल बिशये, धनबाद (झारखंड)	शा. महर्षि वाल्मीकी महाविद्यालय, भानुप्रतापपुर, जि. कांकेर (छ.ग.)
४६	श्री महाबीर प्रसाद चौरासिया, रायपुर (छ.ग.)	शा. पी.जी. दिग्विजय महाविद्यालय, राजनांदगाँव (छ.ग.)
४७	श्री कृष्ण लाल ढ़ल, जयपुर (राजस्थान)	शास. दण्डकारण्य महाविद्यालय, केशकाल, कोण्डागाँव (छ.ग.)
४८	श्री दानेश्वर प्रसाद वर्मा, रायपुर (छ.ग.)	शा. हाईस्कलू, गिरौद, वाया - मांढर, सीसीआई, रायपुर (छ.ग.)
४९	श्री राम कुमार नायक, बलौदा बाजार (छ.ग.)	शा. मिनीमाता कन्या महाविद्यालय, बलौदाबाजार, (छ.ग.)
५०	......	शास. राजीव गाँधी महाविद्यालय, सिमगा, जि.- बलौदाबाजार (छ.ग.)
५१	श्री संतोष तिवारी, भोपाल (म.प्र.)	डॉ. ज्वाला प्रसाद सिंह शा. महाविद्यालय, मुंगेली (छ.ग.)

ब्रह्मकृत-दवीस्तुतिः

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका।

– हे देवि ! तुम्हीं स्वाहा, तुम्हीं स्वधा और तुम्हीं वषट्कार हो। स्वरा भी तुम्हीं हो।

सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।
अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ।।

– हे माँ, तुम्ही सुधा हो, तुम्हीं नित्य अक्षर प्रणव में अकार, उकार और मकार तीन मात्राओं के रूप में स्थित हो। इन मात्राओं के अतिरिक्त जो बिन्दुरूपा नित्य अर्धमात्रा है, जिसका विशेषरूप से उच्चारण नहीं किया जा सकता, वह भी तुम्हीं हो।

त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा।
त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत् ।।
त्वयैतत् पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा।
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने ।।

– हे देवि ! तुम्हीं सन्ध्या, सावित्री और परम जननी हो। तुम इस विश्व का धारण करती हो, इसका सृजन करती हो, पालन करती हो और अन्त में संहार करती हो।

पुरखों की थाती

लोभात्क्रोधः भवति लोभात्कामः प्रजायते ।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् ।।५२२।।

– लोभ से क्रोध होता है, लोभ से कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, लोभ से अज्ञान बढ़ता है और लोभ से विनाश भी होता है; अत: लोभ ही सभी पापों का कारण है ।

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् ।
तृषार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ।।५२३।।

– लोभ से बुद्धि चञ्चल होती है, तृष्णा बढ़ती है और तृष्णा से आकुल व्यक्ति इहलोक एवं परलोक में भी दुखी रहता है ।

लोभश्चेद अगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः ।।५२४।।

– व्यक्ति में यदि 'पिशुनता' है, तो फिर उसे अन्य कोई पाप करने की आवश्यकता नहीं है अर्थात् उससे अपने आप ही सहज भाव से बाकी सारे पाप चले आते हैं ।

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् स्तब्धमञ्जलि-कर्मणा ।
मूर्खं छन्दानुरोधेन याथातथ्येन पण्डितम् ।५२५।।

– लोभी को धन देकर, अहंकारी के सामने हाथ जोड़कर, मूर्ख को उसके अनुसार कार्य करके और विद्वान् को सच्ची बातें बताकर अपने अनुकूल कर लेना चाहिये ।

विविध भजन

माँ हैं मैं हूँ

स्वामी आत्मानन्द

माँ है मैं हूँ फिर तो मुझको चिन्ता कैसी अबकी बार।
माँ के हाथों खाता पीता, माँ ने लिया मेरा भार।।
जग माया के घोर क्षणों में जब भी देखूँ अन्धकार।
माँ उस घन तम में है कहती डर मत डर मत बारम्बार।।
षड्‌रिपु आकर हमला करते पथ भरमाते कितनी बार।
हाथ पकड़कर तब माँ करती, संकट से मेरा उद्धार।।
भले रहूँ भूला मैं माँ को, माँ न भूलती एकहु बार।
मैं माँ का हूँ माँ मेरी है, उसे छोड़ क्या स्नेहाधार।।

प्रभु-दरशन को तड़पत मनवाँ

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

प्रभु-दरशन को तड़पत मनवाँ,
चाहे हरि-दर्शन मनवाँ।।
भगति बिराग लायो नहीं मन में,
रहि-रहि दुख सतावे मनवाँ।।
प्रभु दरशन को तड़पत .....
लोभ-मोह हिय सालत मोही,
आज प्रभु क्यों बने निर्मोही।
विषय-प्रसंगे भुलावे मनवाँ,
प्रभु दरशन को तड़पत ...
एक अखण्ड पूर्ण परमेश्वर,
जग-पालक जग-रक्षक ईश्वर।
महिमा वेद सुनावे मनवाँ,
प्रभु दरशन को तड़पत ...
भव-बन्धन के काटनहारे,
पाप-ताप-दुख नाशनहारे।
ऋषि-मुनि-वेद बतावे मनवाँ,
प्रभु दरशन को तड़पत ..
छोड़ विषय धर प्रभु-पद कमल,
हो शरणागत भक्ति सुविमल।
प्रभु से प्रेम बढ़ाओ मनवाँ,
प्रभु दरशन को तड़पत ...

जीवन है वही जो जन-जन के

स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

क्या सोचता रे पागल मनुवाँ,
जो बीत गया सो बीत गया।
इस झूठे खेल का मूल्य ही क्या,
कोई हार गया, कोई जीत गया।।
हम चाहें वही हो जरुरी नहीं,
आशायें कभी हुई पूरी कहीं।
रे सोच तनिक जीवन-घट का,
श्वाँसा जल कितना रीत गया।।
प्रभु प्रेम पीयूष पिया जिसने,
परहित हित जन्म लिया जिसने।
जीवन है वही जो जन-जन के,
मृदु अधरों का बन गीत गया।।
जब सूर्य सा साथी मिलता है,
'राजेश' कमल तब खिलता है।
हर साँझ को कहता है पंकज,
हम कैसे खिलें अब मीत गया।।

रामकृष्ण बोल

स्वामी रामतत्त्वानन्द

रामकृष्ण रामकृष्ण रामकृष्ण बोल।
रामकृष्ण रामकृष्ण रामकृष्ण बोल।।
कैसा सुन्दर है यह नाम,
रामकृष्ण पावन सुखधाम।
तारक मन्त्र परम अनमोल।। रामकृष्ण ...
भवमय बन्धन खंडक नाम,
भक्त-हृदय हिय पूरण काम।
ष्णान्तं शिवं सुखद सुमोल।। रामकृष्ण ...
एक घड़ी बस सुबह शाम,
रामकृष्ण यह सुन्दर नाम।
बोल प्यारे प्रेम से बोल।।रामकृष्ण ...

जय दुर्गे दुर्गति परिहारिणि

भगवान शंकराचार्य जी 'देव्यपराधक्षमापन' स्तोत्र में माँ से निरन्तर कृपानुभूति के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए और अपनी असमर्थता पर पश्चात्ताप करते हुए कहते है –

जगन्मातर्मातस्तव चरणसेवा न रचिता,
न वा दत्तं देवि द्रविणमपि भूयस्तव मया।
तथापि त्वं स्नेहं मयि निरुपमं यत्प्रकुरुषे,
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।।

– हे जगन्माता ! मैंने तेरे चरणों की सेवा नहीं की, न ही मैंने कभी तुझे कोई वस्तु प्रदान की। तथापि तुम मुझे सदा स्नेह करती रही।

इसीलिए तो शक्तिमयी माँ दुर्गा जगदम्बा हैं, जगज्जननी हैं। वे अपनी सन्तानों से सदा निष्कारण प्रेम करती हैं, अपनी स्नेह-सरिता में सर्वदा अवगाहन कराती हैं, अपने प्रेम-जलधर की वृष्टि से सिंचित करती हैं, अपने स्नेहांचल में सुलाकर त्राण करती हैं और सदा-सर्वदा अहर्निश मंगल करती रहती हैं।

पिता की पुत्र से बहुत अपेक्षाएँ होती हैं। पिता पुत्र को कई कसौटियों पर खरा देखना चाहते हैं। किन्तु माँ तो माँ होती है। उसकी पुत्र से कोई अपेक्षा-आकांक्षा नहीं होती, वह तो बस अपनी सन्तान से प्रेम के लिए प्रेम करती है।

भगवान की परीक्षा में यदि भगवान स्वयं कृपा कर उत्तीर्ण न करें, तो भक्त सफल नहीं हो सकता। इसलिए माँ अपने पुत्रों की बहुत परीक्षा नहीं लेती, वह तो चाहती है कि उसका पुत्र एक बार मुझे अपनी माँ कह दे, अपनी माँ का बोध कर मेरे पास आ जाय। लेकिन दुर्भाग्यवशात् हम ऐसी दयामयी माता के चरणारविन्दों को छोड़कर संसार के क्षणभंगुर विषय-कमल-कलिका को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं, जो स्पर्श करते ही नष्ट हो जाती है और मनुष्य को दुख-सागर में डुबा देती है।

इसलिए भक्त अपने अपराधों का प्रायश्चित्त करते हुए माँ से प्रार्थना करता है –

अपराध सहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया।
दासोऽयमिति मां मत्वा क्षमस्व परमेश्वरी।।

– हे माँ ! मुझ से दिन-रात हजारों अपराध हो रहे हैं, किन्तु अपना सेवक समझकर मुझे क्षमा कर दो –

अपराध सहस्त्रों निशदिन होते मेरे द्वारा।
हे परमेश्वरी दास मानकर क्षम अपराध हमारा।।
भक्ति-क्रिया से हीन सुरेश्वरि मन्त्र न मुझको आता।
यथाशक्ति पूजा की तेरी उससे खुश हो माता।।
अपराधी हूँ हे माता इसलिये शरण आया तेरी।
कृपापात्र हूँ माँ मेरी, कर जैसी इच्छ हो तेरी।।
अज्ञान विस्मरण भ्रान्ति से जो थोड़ा-बहु पाप किया।
उन सबको कर क्षमा देवि दरशन दे हे शिवप्रिया।।
कामेश्वरि जगन्माता सच्चिदानन्दस्वरूपिणि हो।
प्रेम-अर्चना से प्रसन्न हो, माँ तुम ही परमेश्वरी हो।।

माँ दुर्गा की पूजा बड़े व्यापक रूप से भारत और भारतेतर भारतवासियों के द्वारा बड़ी श्रद्धा-भक्ति से मनाई जाती है। सर्वदुखहारिणी, सर्वसुखकारिणी, दयारूपिणी, वात्सल्यप्रवर्षिणी माँ दुर्गा संसार की सभी चराचर प्राणियों की माता हैं। वे सन्तानों की सदा-सर्वदा रक्षा करने के लिये उद्यत एवं उत्सुक रहती हैं। सन्तानों के शत्रुओं के विनाशार्थ सौम्यरूपिणी माँ जगदम्बा रौद्ररूपिणी बन जाती हैं। देवों के अरि दानवों के वध हेतु हाथ में बरछी लेकर रौद्र रूप धारण कर दानवों से युद्ध करने लगती हैं और उन दैत्यों का विनाश कर देवों को अभय प्रदान करती हैं। इसीलिये माँ दुर्गा के नाम की बड़ी महिमा बताई गयी है –

दुर्गे दुर्गेति दुर्गाया दुर्गे नाम परं हितम्।
यो भजेत् सततं चण्डीं जीवन्मुक्तः स मानवः।।

– यह दुर्गा नाम मानवों के लिए परमहितैषी है। जो व्यक्ति इन नामों का भजन करता है, वह जीवन्मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है। माँ दुर्गा के नाम-जप की ऐसी महिमा है।

भयग्रस्त मानवों को भयमुक्त करने हेतु माँ दुर्गा के कुछ नामों के जप का उल्लेख मिलता है। माँ दुर्गा के ३२ नामों के पाठ मात्र से मानव सभी भयों से मुक्त हो जाता है। उनमें से कुछ नाम बड़े महत्वपूर्ण हैं जैसे — दुर्गार्तिशमनी, दुर्गनाशिनी, दुर्गमासुरसंहन्त्री, दुर्गेश्वरी आदि। माँ दुर्गा जन्म-मरण-चक्र रूपी दुर्गनाशिनी हैं, आर्तो की पीड़ा का शमन करती हैं, कठिन, दुर्गम दुर्ग का भेदन करने वाली हैं, दुर्दैत्यों का संहार करनेवाली और सबकी परमेश्वरी हैं। जीवन में दुख-संकट भय आने पर माँ की इन नामों से आराधना, उपासना करने से अतुलनीय शक्ति का उद्भव होता है और मनुष्य उन समस्त संकटों को हँसते हुए पार हो जाता है।

महाशक्तिशालिनी हैं माँ दुर्गा

माँ के नाम-स्मरण मात्र से मानव के तन-मन में शक्ति आती है। ऐसा क्यों न हो? क्योंकि माँ दुर्गा महाशक्तिशालिनी हैं। माँ का प्राकट्य समस्त देवताओं के एक-एक अंश से उद्भूत शक्ति के सम्मिलन से हुआ है। अत: सर्वदेवशक्ति की सम्मिलित महाशक्ति हैं। देवासुर संग्राम में देव पराजित होकर दानवों से रक्षा हेतु माँ से प्रार्थना करते हैं, तब महाशक्तिरूपिणी माँ शुम्भ-निशुम्भ आदि दैत्यों का वध कर विजय प्राप्त करती हैं और देवों को सनाथ करती हैं। माँ दुर्गा को जब-जब देवों ने आर्त होकर पुकारा, तब-तब माँ ने आकर उनकी रक्षा की। माँ ने स्वयं यह प्रतिज्ञा की है –

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्।।

– इस प्रकार जब-जब संसार में दानवी बाधा उपस्थित होगी, तब-तब अवतार लेकर मैं शत्रुओं का संहार करूँगी।

इतना ही नहीं माँ देवताओं को आश्वस्त करते हुए कहती हैं —

एभिः स्तवैश्च मां नित्यं स्तोष्यते यः समाहितः।
तस्याहं सकलां बाधां नाशयिष्याम्यसंशयम्।।...
उपसर्गानशेषांस्तु महामारी समुद्भवान्।
तथा त्रिविधमुत्पातं माहात्म्यं शमयेन्मम।।

– जो एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन इन स्तुतियों से मेरा स्तवन करेगा, उसकी सारी बाधाएँ मैं निश्चय दूर करूँगी। जो मेरा माहात्म्य सुनेगा, उसके महामारीजनित सभी दुखों और त्रिविध दुखों का मैं शमन कर दूँगी।

तभी तो स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज भव-भय नाश हेतु माँ दुर्गा की वन्दना करते हैं –

जय दुर्गे दुर्गति परिहारिणी शुम्भ विदारिणी मातु भवानी।।
आदिशक्ति परब्रह्मस्वरूपिणी जगजननि चहुँ वेद बखानी।।
ब्रह्मानन्द शरण में आये भवभय नाश करो महरानी।।

माँ के प्रति प्रेम कैसे बढ़े?

माता के उपकारों को स्मरण करने से उनके प्रति प्रेम बढ़ता है। त्रैलोक्यनाथ सान्याल कहते हैं —

अन्तरे जागिछो गो माँ अन्तरयामिनी।
कोले कोरो आछो मोरे दिवस यामिनी।।...

– अर्थात् "हे अन्तर्यामिनी माँ ! तुम मेरे हृदय में जाग्रत हो। मुझे अहर्निश अपनी गोद में ली हुई हो। हे माँ ! इस अधम पुत्र के प्रति तुम्हारा इतना स्नेह ! मानो तुम प्रेम में पगली हो गई हो। माँ ! तुम कभी प्रेम से और कभी बलपूर्वक मुझे अमृत पिलाती हो और मधुर कहानियाँ सुनाती हो। मैं अब तेरी वाणी को सुनकर ही सन्मार्ग पर चलूँगा। तेरा दुग्ध पीकर वीर बलवान बनूँगा और आनन्द से जय ब्रह्म सनातनी के गीत गाऊँगा।"

इस प्रकार माँ जगदम्बा की कृपा का अनुभव करने से, मन-ही-मन उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने से उनसे प्रेम और श्रद्धा बढ़ती है। इसी प्रेम और श्रद्धा की डोर से आकर्षित होकर माँ पुत्र को अपना दिव्य दर्शन देने और उसकी रक्षा करने के लिये दौड़ी चली आती हैं।

माँ जगदम्बा सर्वरूपमयी हैं और सकल संसार देवीमय, देवी से परिपूर्ण है, इसलिये मैं उस विश्वरूपिणी परमेश्वरी को नमस्कार करता हूँ।

सर्वरूपमयी देवि सर्वं देवीमयं जगत्।
अतोऽहं विश्वरूपां त्वां नमामि परमेश्वरीम्।।

ऐसी परम सहृदया स्नेहवत्सला सुत-स्नेह में पागलिनी हमारी माँ दुर्गा हैं। माँ हम सबका परम कल्याण करें और अपना दिव्य दर्शन देकर हम सबको भवसागर से पार करें।

OOO

ईश्वर की उपासना

स्वामी विवेकानन्द

समग्र प्रकृति ही ईश्वर की उपासना है । जहाँ कहीं जीवन है, वहीं मुक्ति की खोज है और वह मुक्ति ही ईश्वरस्वरूप है । दर्शन-शास्त्र का चाहे जो विचार हो, तत्त्वज्ञान का चाहे जो कहना हो, पर जब तक इस लोक में मृत्यु नाम की वस्तु है, जब तक मानव-हृदय में दुर्बलता जैसी वस्तु है, जब तक मनुष्य के हृदय से दुर्बलताजनित करुण क्रन्दन निकलता है, तब तक इस संसार में ईश्वर पर विश्वास भी कायम रहेगा ।

हिन्दू शब्दों और सिद्धान्तों में जीना नहीं चाहता । यदि इन साधारण इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों के परे और भी कोई अस्तित्व है, तो वह उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है । यदि उसमें जड़ पदार्थ के अतिरिक्त कोई आत्मा है, यदि कोई दयामय सर्वव्यापी विश्वात्मा है, तो वह उसका साक्षात्कार करेगा । वह उसे अवश्य देखेगा और मात्र उसी से उसकी समस्त शंकाएँ दूर होंगी । अत: आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय में हिन्दू ऋषि यही सर्वोत्तम प्रमाण देता है – ''मैंने आत्मा को देखा है; मैंने ईश्वर का दर्शन किया है ।''

ईसा मसीह के ये शब्द स्मरण रहें, ''माँगो और तुम्हें दिया जायगा; ढूँढ़ो और पाओगे; खटखटाओ और दरवाजा तुम्हारे लिए खुल जायगा ।'' ये शब्द आलंकारिक या काल्पनिक नहीं, बिल्कुल सत्य हैं । ये शब्द इस पृथ्वी पर आनेवाले परमेश्वर के महानतम पुत्रों में से एक के हृदय के रक्त के समान बह निकले थे । ये शब्द एक ऐसे व्यक्ति की अनुभूति के फलस्वरूप निकले हैं, जिसने परमेश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव किया था, उसका प्रत्यक्ष स्पर्श किया था, उसके साथ निवास किया था, उसके साथ बातचीत की थी और वह भी साधारण रूप से नहीं, बल्कि जैसे हम इस दीवार को देख रहे हैं, उससे भी सैकड़ों-गुना अधिक प्रत्यक्ष रूप से ।

जिससे सभी प्राणी प्रकट हुए हैं, जिसमें सभी स्थित हैं और जिसमें सब विलीन होंगे, वही ईश्वर है ।

यदि समरूपता विश्व का नियम है, तो इसका प्रत्येक अंश उसी नियम के अनुसार निर्मित होना चाहिए, जिसके अनुसार पूर्ण विश्व बना है । इसलिए हमारा यह सोचना स्वाभाविक है कि विश्व कहे जानेवाले इस स्थूल भौतिक रूप के पीछे एक सूक्ष्मतर तत्त्वों का विश्व अवश्य होगा, जिसे हम विचार कहते हैं और उसके पीछे एक 'आत्मा' होगी, जो इस समस्त विचार को सम्भव बनाती है, जो आज्ञा देती है और जो इस विश्व की सिंहासनारूढ़ राज्ञी है । वह आत्मा, जो प्रत्येक मन और शरीर के पीछे है, 'प्रत्यगात्मा' या व्यक्तिगत आत्मा कहलाती है और जो विश्व के पीछे रहकर इसका पथप्रदर्शन, नियंत्रण तथा शासन करती है, वह 'ईश्वर' कहलाती है ।

जन्म लेते ही बच्चा नियम के विरुद्ध विद्रोह करने लगता है । उसकी पहली आवाज रुदन की होती है, जो अपने बन्धनों के प्रति उसका विरोध है । स्वाधीनता की यह आकांक्षा ही एक पूर्ण स्वतंत्र सत्ता का भाव व्यक्त करती है । ईश्वर की धारणा मानव-प्रकृति का एक मूल उपादान है । वेदान्त के अनुसार मानव-मन की सर्वोच्च ईश्वर-धारणा सत्-चित्-आनन्द है । वह स्वभाव से ही ज्ञानमय तथा आनन्दमय है ।

हम लोग संसार से होकर ऐसे भागे जा रहे हैं मानो कोई सिपाही हमारा पीछा कर रहा हो और इस कारण हम जगत् के सौन्दर्य का लेश मात्र ही देख पाते हैं । जो समस्त भय हमारा पीछा करते हैं, वह जड़ को सत्य मान बैठने के कारण ही है । पीछे मनस्तत्त्व होने के कारण ही जड़ पदार्थ के अस्तित्व का बोध होता है । हम जो कुछ देखते हैं, वह प्रकृति के माध्यम से व्यक्त हो रहा ईश्वर ही है ।

ईश्वर स्थिर है और अपने महिमामय तथा अपरिवर्तनशील स्वरूप पर प्रतिष्ठित है । तुम और हम उसके साथ एक होने की चेष्टा करते हैं, परन्तु इधर बन्धन की कारणीभूत प्रकृति पर, दैनन्दिन जीवन की छोटी-छोटी बातों – धन, नाम, यश, मानव-प्रेम आदि प्राकृतिक विषयों पर निर्भर होते हैं ।

यह जो समग्र प्रकृति प्रकाशित हो रही है, इसका प्रकाश किस पर निर्भर है? सूर्य, चन्द्र, तारों पर नहीं, अपितु ईश्वर पर । जहाँ कहीं कुछ प्रकाशित होता है, चाहे वह सूर्य का प्रकाश हो या हमारी चेतना का, वहाँ उसी का प्रकाश होता है; उसके प्रकाश से ही सब कुछ प्रकाशित होता है ।

मैंने इतनी तपस्या करके यही सार समझा है कि हर जीव में वे ही विराजित हैं; इसके सिवा ईश्वर और कुछ भी नहीं । जो जीवों पर दया करता है, वही ईश्वर की सेवा कर रहा है । ○○○
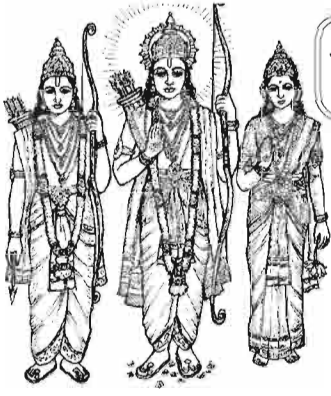
यथार्थ शरणागति का स्वरूप (१/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार हैं। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज हैं। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में १९९२ में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलिखन श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

रामचरितमानस में भी आप इतना समन्वित दृष्टिकोण इसी संदर्भ को लेकर पायेंगे। उसका अभिप्राय है कि शास्त्र के एक वाक्य को, एक पंक्ति को पढ़कर दुहरा देना, इससे बढ़कर कोई अनर्थ नहीं हो सकता है। यह अनर्थ अधिकांश व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है। वह प्रसंग है, देवर्षि नारद का। नारद ने काम, क्रोध, लोभ को जीत लिया। जीत लेने के बाद उन्हें अभिमान हो गया। भगवान शंकर के पास पहुँचे, तो भगवान शंकर ने उन्हें सावधान करने की चेष्टा की। बड़ी विनम्र भाषा में उन्हें चेतावनी दी। नारद ने उसे अनसुना कर दिया। भगवान शंकर पर उनकी दोषबुद्धि हो गई। उसके पश्चात् देवर्षि नारद के जीवन में, जहाँ उन्होंने तीन विकारों को जीतने का दावा किया था, वहाँ षड्विकार आ गये, और उनके सामने बहुत बड़ी समस्या उत्पन्न करने में सक्षम हो गये। यह एक लम्बा प्रसंग है। किन्तु आनन्द का प्रसंग यह है, यहाँ पर सूत्र यह है कि जब भगवान के अवतार का कारण शंकर जी बता रहे थे, तो उन्होंने पार्वतीजी से यह कहा कि एक कल्प में नारद जी ने भगवान को शाप दे दिया, इसलिये उनका अवतार हुआ। अब पार्वतीजी के आश्चर्य की सीमा नहीं। पार्वतीजी बड़े आश्चर्य से कहती हैं –

गिरिजा चकित भई सुनि बानी।
नारद विष्णुभगत पुनि ग्यानी।।
कारण कवन श्राप मुनि दीन्हा।
का अपराध रमापति कीन्हा।।
यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी।
मुनि मन मोह आचरज भारी।। १.१२३.६-८

आप ध्यान दें, देवर्षि नारद के जीवन में जो समस्याएँ उत्पन्न हुईं, वह इसीलिये हुईं कि भगवान शंकर की चेतावनी को उन्होंने अनसुनी कर दिया। उनके उपदेश को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। ऐसी परिस्थिति में जब पार्वतीजी प्रश्न करती हैं, तो भगवान शंकर के स्थान पर अगर कोई दूसरा व्यक्ति होता, तो क्या उत्तर देता? हम लोग ऐसी परिस्थिति में क्या उत्तर दिया करते हैं? मान लीजिये आपने किसी को कोई बात कही हो और वह व्यक्ति आपकी बात को न माने। वह मनमानी कुछ करे और संकट में पड़ जाय, तो हम यह कहे बिना नहीं रहेंगे कि हमने तो पहले ही कहा था। हम लोगों का एक मुख्य वाक्य है, हम तो पहले से ही जानते थे। हम लोग सर्वज्ञ तो हैं ही, जो पहले से ही सब कुछ जानते हैं। इस सर्वज्ञता का दावा तो लंकावाले भी करते हैं। जब हनुमानजी पकड़कर लाए गये, तो लोग लात मार रहे थे, गाली दे रहे थे, ढोल बजाते नगर में घुमा रहे थे। पर हनुमानजी ने जब लंका जलायी, तो सारे राक्षस कहने लगे –

हम जो कहा यह कपि नहिं होई।
बानर रूप धरें सुर कोई।। ५.२५.४

हम तो पहले ही कहते थे कि यह बन्दर नहीं कोई देवता है। अब ये बात किससे कहे और ये कौन है सुनने वाला? सब कहने-ही-कहने वाले थे, कोई सुननेवाला तो वहाँ था नहीं। क्योंकि प्रत्येक राक्षस यही कहता था कि 'हमने जो कहा'। किससे कहा का प्रश्न कहाँ है? वहाँ तो सभी सर्वज्ञ हैं। इसका अभिप्राय यह है कि किसी का पतन देखकर, किसी की बुराई देखकर, हमारा ध्यान अपने आप में केन्द्रित होकर यही बताता है कि अगर इसने मेरी बात मानी होती, तो शायद इसके सामने यह कष्ट न आता। भले ही वह सत्य न हो, पर ऐसा कहने वाले अधिकांश व्यक्ति मिलते हैं। पर धन्य हैं भगवान शंकर, एक बार भी नहीं कहा कि नारद की दुर्दशा तो इसी कारण से हुई कि मैंने उन्हें उपदेश दिया और उन्होंने अस्वीकार कर दिया। बिल्कुल सही बात थी कि शंकरजी ने नारदजी को उपदेश

दिया और नारदजी ने उसे स्वीकार नहीं किया था। पर भगवान शंकर जो उत्तर देते हैं, उसका अर्थ वह वाक्य जो दुर्योधन ने कहा, वह वाक्य जो बहुधा संसार में अधिकांश व्यक्ति बुराइयों के संदर्भ में दुहरा दिया करते हैं, वैसा नहीं है। भगवान शंकर के मुख से वह वाक्य वस्तुत: सिद्धान्त वाक्य भी है, कल्याणकारी भी है और भगवान शंकर की महिमा के अनुकूल है। देवर्षि नारद ने भगवान को शाप दिया। शाप देने के बाद अपनी भूल का भान हुआ। तब उन्होंने यह कहा –

मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे।
कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे।। १.१३७.४

प्रभु, मैंने आपके लिये बड़े कठोर शब्दों का प्रयोग किया, मेरे पाप कैसे मिटेंगे। अब यह जो देवर्षि नारद का प्रश्न है, इसका अर्थ क्या है? क्या देवर्षि नारद यह सिद्धान्त नहीं जानते कि सबकुछ भगवान ही कराते हैं। क्या वे यह नहीं कह सकते थे? बल्कि वह बात नारदजी ने नहीं कही, भगवान ने कही। जब नारदजी ने कहा कि मैंने शाप दे दिया, मेरा पाप कैसे मिटे, तब भगवान ने कह दिया –

मम इच्छा कह दीनदयाला। १.१३६.३

अब मान लीजिए, इसी वाक्य का मुख बदल दीजिये। भगवान कहें कि सब तेरे अभिमान ने कराया और नारद कहें कि सब आपने कराया। तो शास्त्रों में दोनों वाक्य अलग-अलग प्रसंगों में मिलेंगे। पर भगवान कहते हैं, नारद, तुमने अपराध नहीं किया। मैं नहीं मानता तुम्हारा अपराध। पर तुम अगर हृदय में विश्राम पाना चाहते हो, तो उसके लिये मैं तुम्हें एक उपाय बताना चाहता हूँ। क्या?

जपहु जाइ संकर सत नामा। १.१३६.५

तुमने भगवान शंकर के उपदेश को जीवन में अस्वीकार किया। उनकी चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया, इसीलिये यह स्थिति उत्पन्न हुई। मेरी तो कोई बात नहीं है, पर तुमने शंकरजी का अपराध किया है, इसलिये जाकर शंकर जी के सतनाम का जप करो, तब विश्राम प्राप्त होगा। तब नारद एक वाक्य कहते हैं और भगवान दूसरा वाक्य कहते हैं। भगवान जब शंकर जी का भजन करने के लिये कहते हैं। और उधर भगवान शंकर जब पार्वतीजी को उत्तर देते हुए कहते हैं, तो कितना विलक्षण उत्तर देते हैं? प्रश्न सुनते ही भगवान शंकर खूब हँसे। ऐसा आनन्दमय हास्य ! पार्वतीजी को आश्चर्य हो रहा है कि मैंने इतना बड़ा प्रश्न किया, इतने बड़े महापुरुष के जीवन में इतनी बड़ी बुराई आ गई! किन्तु ये हँस रहे हैं। क्या भगवान शंकर हमारे गुरुजी पर हँस रहे हैं? देवर्षि नारद पार्वतीजी के गुरुजी हैं। लेकिन भगवान शंकर हँसकर कहते क्या हैं?

बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोई।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होई।। १.१२४

न कोई ज्ञानी है न कोई मूढ़ है, ईश्वर जिसको जब जैसा चाहता है, वैसा बना देता है। भगवान शंकर जब यह वाक्य कहते हैं, तो इसका अभिप्राय है कि कहीं भी उनमें अहंकार का लेश नहीं है। वे उस स्थान पर स्थित होकर बोलते हैं, जो एक तात्त्विक सत्य है, सिद्ध सत्य है, वह साधक का सत्य नहीं है। सिद्ध का सत्य होते हुए भी अगर साधक उस सत्य को दुहरा देगा, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि साधक की साधना का एकदम विनाश ही हो जायेगा। जब यह कहा जाता है कि सब कुछ ईश्वर ही कराता है, सब कुछ ईश्वर के द्वारा ही होता है, तो उसका तात्पर्य यही है कि –

करन राम चाहैं सोइ होई।
करिय अन्यथा नहि अस कोई।।

यह एक तात्त्विक सत्य है। जो तात्त्विक सत्य है और जो साधक का सत्य है, उसको अलग अलग करना हमें सीखना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे स्वर्ण के द्वारा अनेक वस्तुएँ निर्मित होती हैं, और वह तत्त्वत: स्वर्ण ही है, किन्तु खरीदने वाला तो यह जानते हुए भी कि यह सोना ही है, उसके द्वारा निर्मित आभूषण उपयुक्त स्थान पर ही धारण किया जाता है। अब कोई व्यक्ति गले में धारण किये जाने वाले हार को पैर में पहन ले, पैर में पहनने वाली वस्तु गले में पहन ले और यह कहे कि तुम्हारी भेद बुद्धि है, जब सब स्वर्ण ही है, तो उसे गले में पहनें कि पैर में पहनें, क्या फर्क पड़ता है? तो यह उत्तर केवल उसके अविवेक का ही परिचायक है।

अत: साधक का सत्य और सिद्ध का सत्य अलग-अलग होता है। यदि सिद्ध के सत्य को साधक दुहरायेगा, तो वह साधना के पथ पर ठीक-ठीक आगे बढ़ ही नहीं सकेगा। हमारे ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज ने अपना संस्मरण सुनाया था। जब उन्होंने संन्यास नहीं लिया था, तब उन्होंने जिन महात्मा से दीक्षा ली थी, वे रामकृष्ण मिशन के ही संन्यासी थे स्वामी योगानन्द जी महाराज। उन्होंने माँ सारदा का दर्शन किया था, उनकी

कृपा भी उन्हें प्राप्त थी। उन्हीं के सान्निध्य में जब वे साधना में संलग्न थे, तो उसी समय जीवन्मुक्त महात्मा श्री उड़िया बाबाजी महाराज काशी में आए। बड़ा नाम था उनका। उन्होंने स्वामी योगानन्दजी महाराज से पूछा – उड़िया बाबा जी महाराज आए हुये हैं, क्या मैं जाकर उनका दर्शन कर आऊँ? तो उन्होंने कहा कि नहीं। उन्होंने आज्ञा नहीं दी। आज्ञा पालन कर महाराज रुक तो गये, पर मन में एक बात आई कि क्या महात्माओं में भी ईर्ष्या होती है? जब मैंने इनसे पूछा कि क्या मैं उनका दर्शन कर आऊँ, और वे दर्शन करने के लिये रोक रहे हैं, तो क्या यह ईर्ष्या का परिणाम है? फिर भी गुरु के प्रति श्रद्धा थी, आज्ञा नहीं है तो मैं नहीं जाऊँगा। उसके बाद वह साधना परिपूर्ण हुई। तब तक श्री उड़िया बाबा जी महाराज वृन्दावन चले गये। साधना परिपूर्ण हो जाने के बाद श्री योगानन्दजी महाराज ने उनसे कहा कि अब तुम वृन्दावन जाकर श्री उड़िया बाबा जी महाराज का दर्शन कर आओ। उन्होंने कहा, महाराज जब वे इतने पास काशी में आए थे, तब तो आपने उनके दर्शन करने से रोक दिया था, और अब आप इतने दूर वृन्दावन जाकर उनका दर्शन करने के लिये कहे रहे हैं। तो उन्होंने कहा, देखो, मैंने इसलिये रोक दिया कि वे परम वेदान्तनिष्ठ परम जीवनमुक्त संत हैं। यदि तुम उनके वेदान्त ज्ञान को, तत्त्वज्ञान को सुन लोगे, तो साधना के प्रति तुम्हारी अनास्था हो जायेगी, महत्त्व बुद्धि मिट जायगी। इसलिये मुझे रोकना पड़ा कि इस समय तुम्हारा वहाँ जाना उपयुक्त नहीं है। जब तुम साधना की उस स्थिति में पहुँच गये, अब कोई भय नहीं है, अब तुम उनके पास जाकर उनका दर्शन करो, सत्संग करो, कोई आपत्ति नहीं है।

इसका अभिप्राय यह है कि कभी-कभी सिद्ध की वाणी का जो सत्य होता है, वह सिद्ध के मुख से उचित हो सकता है, पर साधक को यह निर्णय करना होगा कि वह वाणी उसके लिये ग्राह्य है कि नहीं। अगर उस वाणी को वह ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेगा, तो उसके जीवन की स्थिति क्या होगी? इसका संकेत सूत्र आपको रामचरित मानस में मिलेगा। श्रीभरत और श्रीलक्ष्मण दोनों महान हैं। वे भगवान राम के महानतम निकटस्थ भक्त हैं। पर यह होते हुए भी श्रीभरत और श्रीलक्ष्मण में जो अन्तर है, वह अन्तर बड़े महत्व का है। श्रीभरत का जो जीवन है, वह सिद्ध और साधक, दोनों के लिये उपयोगी है, पर लक्ष्मणजी का जीवन साधक के लिए नहीं, सिद्ध के लिये ही उपयोगी है। जब श्रीभरत का दर्शन करते हैं, तो किनको प्रसन्नता होती है? रामायण में कहा गया –

निरखि सिद्ध साधक अनुरागे।
सहज सनेहु सराहन लागे।। २.२३६.७

सूत्र यही है कि श्रीभरत महानतम सिद्ध होते हुए भी उनका जीवन साधक जैसा है। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि लक्ष्मणजी निरन्तर प्रभु के पास हैं। श्रीभरत दूर रहकर अयोध्या से चित्रकूट तक यात्रा करते हैं। यही साधना की यात्रा है। यही साधक के लिए सूत्र है। भगवान राम तो यहाँ तक कहते हैं कि भरत और मुझमें कोई अन्तर ही नहीं है –

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ।
भरतहि मोहि कछु अन्तर काऊ।। १.१२४

पर इतना होते हुए भी भरत अन्तर मानकर चलते हैं। आप विचार कीजिये, उस अन्तर की पूर्ति के लिये वे अयोध्या से चित्रकूट की यात्रा करते हैं। उसका तात्पर्य मानो यह है कि वे सिद्ध सत्य होते हुए भी, भगवान राम से अभिन्न हैं। वह अभिन्नता कहीं अभिमान का पर्यायवाची न बन जाय। इसलिये साधक के लिये निरन्तर सावधान रहने की आवश्यकता है। साधक अगर सिद्ध का सत्य स्वीकार कर ले, तो उसका पतन अवश्यम्भावी है।

हम चाहकर भी क्यों अच्छाई का आचरण नहीं कर पाते? क्यों बुराई नहीं छोड़ पाते? इसका उत्तर यह नहीं है कि वह सब भगवान ही कराते हैं। एक सज्जन ने कहा कि जब सब भगवान ही कराते हैं, तो जब मैं कोई बुराई करता हूँ, तो उसका दण्ड मुझे क्यों मिलना चाहिये? मैंने कहा कि अगर आपसे वे हत्या कराते हैं, तो फाँसी भी तो वे ही दिलाते हैं। तब आप संतोष कर लीजिये। यदि आप यह मान लेते हैं कि अपराध भी वे ही कराते हैं और दण्ड भी वे ही दिलाते हैं तो ठीक है। पर अपराध वे कराते हैं और दण्ड कोई दूसरा देता है, साधक को यह मानकर कभी अपने को भ्रम में नहीं डालना चाहिये। सब कुछ ईश्वर कराता है। यह सिद्ध का सत्य है। ऐसी स्थिति में, वह मूल प्रश्न वहीं, जहाँ का तहाँ है, हमें वही मानना चाहिये। तत्त्वत: सत्य क्या है, इसके विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। हमारे जीवन में जो साधना के लिये उपयोगी सत्य है, उसी को मानकर हम साधन पथ पर आगे बढ़ सकते हैं। **(क्रमशः)**

सारगाछी की स्मृतियाँ (४८)

स्वामी सुहितानन्द

स्वामी प्रेमेशानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराजजी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और वाराणसी के रामकुमार गौड़ ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

सुनो, सुनो श्रीम रचित पुस्तक लेकर आओ तो।

सेवक – अब फिर से श्रीम कृत पुस्तक क्यों?

महाराज – लगता है तुम्हें पता नहीं है। तुम नहीं जानते हो क्या ये जो बूढ़े साँवले और दुबले डॉक्टर आए हुए हैं? जब वे कोलकाता में डॉक्टरी (चिकित्साशास्त्र) पढ़ते थे, तब एक-दो बार वे बेलूड़ मठ गए थे। लगता है, स्वयंसेवक के रूप में उन्होंने खिचड़ी भी परोसी थी। सम्भवत: उस दिन कोई उत्सव था। अपराह्न में वे धर्मसभा में भी उपस्थित रहे। उस समय वहाँ ठाकुर के शिष्यगण भी उपस्थित थे।

तत्पश्चात पढ़ाई समाप्त करके वे नौकरी करने लगे। उसी समय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया। वे विदेश में नौकरी करने चले गए। उन्होंने कुछ धन भी कमा लिया। अवकाश प्राप्त होने पर वे अपने घर मुर्शिदाबाद आए। एक दिन वे एक दुकान में कुछ खरीदने गए। दुकानदार ने एक कागज में कोई सामान दिया। उस कागज को पढ़ने पर उन्हें पता चला कि उसकी विषयवस्तु तो उनकी पूर्व परिचित लग रही है। उस कागज में बाबूराम, खोका इत्यादि नाम लिखे थे। वस्तुत: वह कागज रामकृष्ण-वचनामृत का एक पृष्ठ था। जब उन्हें पता चला कि वह कागज वचनामृत का एक पृष्ठ था, तब उन्होंने उस पुस्तक को मंगवाया तथा पढ़कर फूटफूट कर विलाप करने लगे। हाय-हाय ! मैंने क्या खो दिया। तब उद्बोधन से तार (टेलीग्राम) देकर सारगाछी आश्रम और प्रेमेशानन्द को इसकी सूचना दी। तभी से बीच-बीच में यहाँ आते हैं। तुम देखोगे, जब भी वे आते हैं, खेत से उत्पन्न कोई न कोई वस्तु लेकर आते हैं। उन्होंने एक दिन मुझसे कहा, "आपने एक पुस्तक पढ़ी है?" मैंने पूछा – कौन-सी पुस्तक? उन्होंने कहा – "श्रीम"। मैंने बिना क्रोधित हुए कहा – पुस्तक का नाम है – श्रीश्रीरामकृष्ण-वचनामृत, श्रीम कृत।

उनकी एक और बात बताता हूँ। कुछ दिनों से वे मुझको परेशान कर रहे थे – आप मुझे अपनी एक फोटो दे दीजिए । मैं तो उपेक्षा करता जा रहा था। किन्तु वे भी मुझे छोड़ने वाले नहीं थे। अन्तत: एक दिन मैंने उन्हें स्नान करके आने को कहा। स्नान करके भक्तिभाव से भरकर उन्होंने अपने दोनों हाथ फैलाए। मैंने भी कपड़े के थैले से एक चित्र निकालकर उनके हाथ में दे दिया। तब उन्होंने उस चित्र को माथे से लगाकर उलटकर देखा – ठाकुर का चित्र। वे शिकायत करते हुए बोले – यह तो ठाकुर का चित्र है ! मैंने उनसे कहा – ठाकुर तो भगवान हैं – all-inclusive (सर्व-समावेशी)। यदि उनके भीतर सब कुछ है, तो क्या प्रेमेशानन्द नहीं है? मैने कह दिया – Never Lower down your ideal (अपने आदर्श को कभी नीचा मत करो) ।

११-१०-१९६०

एक व्यक्ति ने सेवक की निन्दा की। वह सुनकर क्षुब्ध हो गया। महाराज उसे सहज करते हुए बोले, "जो लोग तुम से शत्रुता करते हैं, वे ही तो तुम्हारे मित्र हैं, उनसे तुम बद्ध (आसक्त) नहीं होओगे। वे तुम्हें मुक्त होने के मार्ग पर अग्रसर कर देते हैं। जिनके साथ प्रेम होता है, वे तो तुम्हारे लिए बंधन पैदा करते हैं। एक व्यक्ति तुकाराम की खूब निन्दा करता था। उसके मरने पर तुकाराम ने अश्रुपात करते हुए कहा – 'मेरे एक परम मित्र की मृत्यु हो गई। उसने निन्दा करके मुझे सही मार्ग पर रखा था, मेरा सब दोष वह दिखा देता था।'"

"मैं चाहता हूँ कि मनुष्य का विकास हो। जिस तरह

से उसकी उन्नति हो सके, उसके लिये यथासाध्य सहायता करता हूँ। जबरदस्ती साधु नहीं बनाया जाता। गीता के प्रथम अध्याय में ही तो संन्यासी का प्रसंग है। भीष्म पितामह, गुरु, आत्मीय-स्वजन सभी सामने हैं, इन पर कैसे बाण चलाऊँ? सबका यही प्रश्न है। उसके ही उत्तर में गीता है।''

२५-१०-१९६०

महाराज – प्रारम्भिक चालीस वर्ष की आयु तक छोटे बच्चों से मिलना-जुलना अच्छा लगता है। चालीस वर्ष के बाद एक स्नेह का भाव उमड़ता है, तब सभी को बहुत स्नेह करना अच्छा लगता है, प्रबल माया घेर लेती है, घोर बंधन है। बाहर से ऐसा लगता है कि यह समदर्शन शक्ति (सबको समान भाव से देखने का भाव) है, किन्तु उसका परीक्षण यह है – ध्यान में बैठकर देखो कि उन सब विषयों में मन आकृष्ट होता है कि नहीं।

२६-१०१९६०

महाराज – यह शरीर मानो एक जाल है, इसमें हमेशा रूप-रसादि रूपी मछलियाँ फँस रही हैं और मन उन्हें खींचकर बुद्धि को दे रहा है। बुद्धि के पास संस्कारों की गठरी है, वह उनके साथ मिलाकर कुछ को ले लेती है और कुछ को फेंक देती है। इसके बाद मैं यह सब देखते-देखते भूल गया कि मैं केवल द्रष्टा हूँ, इस यंत्र के सुख-दुख में मैं प्रसन्न और दुखी हो रहा हूँ। हाय, हाय !

२७-१०-१९६०

महाराज – भक्त जिस प्रकार भगवान की लीला को लेकर मतवाला रहता है, ज्ञानी भी उसी तरह ब्रह्म को लेकर मतवाला रहता है। वे निर्गुण से सगुण – प्रकृति, कारण, सृष्टि, अनाहत ध्वनि, महत्, अहंकार, पंच-तन्त्रमात्रा, इत्यादि लेकर लीलाविलास करते हैं।

२९-१०-१९६०

महाराज - वेदान्त के सम्बन्ध में तो हजारों पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, किन्तु इनका पठन-अनुशीलन करने वाले लोग ही नहीं हैं। योग का क्षेत्र तो समाप्त ही हो गया है। होगा कैसे ! सामाजिक व्यवस्था ही ठीक नहीं है। आजकल की जो शिक्षा है, उसे शिक्षा न कहकर साक्षरता ही कहना उचित है। हमारे गाँव के लोग पहले संध्याकाल में संकीर्तन करते थे, युधिष्ठिर आदि के चरित्र की कथा सुनते थे। इससे उनमें एक नैतिक नियम-निष्ठा निर्मित होती थी। यही है वास्तविक शिक्षा। तब गाँवों में इतनी बेरोजगारी नहीं थी। समाज रोजगारपरक था – ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण बनकर यजमानी करके जीविका चलता था। उसके जन्म के साथ ही उसकी जीविका निश्चित हो जाती थी। वैसे ही लुहार, कुम्हार, मोची, इन सबकी जीविका के समाप्त होने से वर्णसंकर हो जाता है, इससे समाज का सर्वनाश हो जाता है। गीता में तो देखा है, इस जीविका की रक्षा का उद्देश्य है, सभी अपने समुदायों में संगठित होकर रहेंगे। सुना है कि रूस में यह प्रयास हो रहा है कि कोई बेरोजगार न रहे।

२९-१०-१९६०

प्रश्न - राजेन घोष ने लिखा है कि आचार्य शंकर रामानुज से श्रेष्ठ हैं। एक दृष्टि से तो ठीक ही है। शंकर अद्वैत तक चले गए, किन्तु रामानुज तो विशिष्टाद्वैत में ही रुक गये।

महाराज - शंकर जिस समय आए थे, उस समय एक ओर बौद्धों का निरा बुद्धिवाद था और दूसरी ओर ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड। उन्होंने इसके बीच से हिन्दू धर्म को बचाए रखा। किन्तु उनके द्वारा प्रचारित धर्म जनसाधारण के किसी काम नहीं आया। उस दृष्टि से रामानुज शंकर से श्रेष्ठ हैं। हम लोगों का भी तो सिद्धान्त है –

''जहाँ-जहाँ दृष्टि पड़े, तहाँ-तहाँ कृष्ण-स्फुरण हो।'' ''यत्र जीव तत्र शिव।'' उस दृष्टि से चैतन्यदेव का धर्म बिल्कुल जन-साधारण का धर्म था। किन्तु चैतन्यदेव ने किसी सम्प्रदाय, मत का प्रचार नहीं किया, उनका जीवन देखकर परवर्ती लोगों ने सम्प्रदाय बना लिया।

हमलोगों का किसी से संघर्ष नहीं होता है। जब मंदिर में जाते हैं, तब द्वैतभाव का चरमोत्कर्ष रहता है, वहाँ से उतरते ही विशिष्टाद्वैत में आ जाते हैं। फिर जब हम ध्यान में बैठते हैं, तो अद्वैतभाव। इसलिए किसी के साथ भी किसी प्रकार की टकराहट नहीं होती।

कर्म अपनी परीक्षा लेने के लिए करना है। अपनी कितनी उन्नति हुई, इसकी परीक्षा लेने के लिए करना है। ध्यान में बैठकर देखना कि कर्म में कितनी आसक्ति आ रही है। इन दोनों को एक ही साथ चलना चाहिए। इस प्रकार समझकर चलने से उतनी आसक्ति नहीं होती, इसी के साथ बीच-बीच में निर्जनवास भी चाहिए। अवतारों ने आकर अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों का प्रचार किया है।

(क्रमशः)

स्वदेश तथा विश्व के लिए भारत का सन्देश

स्वामी नित्यस्वरूपानन्द

(गतांक से आगे)

प्रत्येक धर्म ही सबका धर्म है

हम पहले ही कह आये हैं कि अध्यात्मविद्या की सबसे बड़ी खोज यह है कि धर्म एक है और मतवाद विभिन्न हैं। विभिन्न मतवाद वस्तुत: एक ही धर्म और उसके एकत्वरूप मूल सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। भिन्न-भिन्न नामों से जाने जाने वाले मतवाद उस एक विश्वचेतना के ही विविध पहलू हैं। समान मनोवृत्ति वाले मनुष्यों का एक-एक समुदाय उस विश्वचेतना के एक-एक पहलू के प्रति अनुरक्त होकर उसका अनुसरण करता है। एक विश्वचैतन्य तथा उसकी भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ ये दोनों मूलत: अभिन्न हैं और मनुष्य का मन इस अभिन्न सत्ता को ही विभिन्न अवसरों पर, विभिन्न अभिव्यक्तियों के द्वारा विभिन्न रूपों में धारण करता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति उस एक ही विश्वचेतना रूपी एकत्व के अनुसार इन विभिन्न अभिव्यक्तियों में से किसी एक को अपने लिए उपयुक्त पथ के रूप में चुन लेता है और उसका अनुसरण करता है।

प्रत्येक धर्ममत के मूल में एक मुख्य भाव सक्रिय रहता है, जो विश्वचेतना के एक विशेष पहलू को प्रकाशित करता है। यह भाव एक विशिष्ट माध्यम से अभिव्यक्त हुआ करता है। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रत्येक धर्ममत एक तरह से एकांगी है। प्रत्येक धर्ममत की उपलब्धि विश्वचेतना के एक विशिष्ट पक्ष तक ही सीमित है, पर विश्वचैतन्य के तो अनन्त पहलू हैं, जो अनन्त रूपों, अनन्त दिशाओं और अनन्त माध्यमों से अभिव्यक्त हो रहे हैं। अध्यात्मविद्या में विभिन्न धर्ममत परस्पर-विरोधी तो हैं ही नहीं, अपितु एक-दूसरे के परिपूरक हैं, क्योंकि प्रत्येक धर्ममत मूल आध्यात्मिक एकता का एक विशेष प्रकाश है। इसलिए प्रत्येक धर्ममत को चाहिए कि वह अपनी उपलब्धि की विशेषता के द्वारा अन्य धर्ममतों की सहायता करे तथा इस प्रकार परस्पर सहायता के द्वारा अपने आपको समृद्ध और परिपूर्ण बनावे। एक धर्ममत तभी पूर्णता लाभ करता है और अपने को सार्थक बनाता है, जब वह उस विश्वचेतना के अनन्त प्रकाश को अंगीभूत करने में सक्षम होता है।

आदान-प्रदान ही प्रगति की मूल बात है। इस नीति का अनुसरण करके ही आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी द्रुत गति से अग्रसर हो रहें हैं। यह नीति अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में भी उसी प्रकार उपयोगी हो सकती है। विभिन्न धर्ममतों के बीच निरन्तर आदान-प्रदान के द्वारा ही हर धर्म समृद्ध हो सकता है और इसी प्रकार वे आध्यात्मिक एकता के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। इस विनिमय के द्वारा ही एक धर्म का अन्य धर्म के साथ समन्वय होगा तथा विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों के बीच वास्तविक सहानुभूति और समन्वय की दृढ़ नींव पड़ेगी।

प्रत्येक धर्ममत के विकास के लिए तथा आध्यात्मिक एकता में अपनी पूर्णता पाने के लिए प्रत्येक धर्म को दूसरे धर्मों की अपरिहार्य आवश्यकता है। किसी एक धर्म की एक विशिष्ट सत्यानुभूति अन्य हर धर्म की परिपूर्णता और समृद्धि के लिए आवश्यक है। विभिन्न धर्म जिन आध्यात्मिक सत्यों की प्राप्ति करते हैं, उनकी समष्टि को ही धर्मजगत कहते हैं। धर्मजगत का यह वैचित्र्यपूर्ण सत्यों का भण्डार मानवजाति की सम्मिलित विरासत है, प्रत्येक सम्प्रदाय की सामूहिक सम्पदा है, जहाँ से प्रत्येक सम्प्रदाय खाद्य सामग्री ले सकता है। इन विविध आध्यात्मिक सत्यों से प्रत्येक धर्म लाभ उठा सकता है। अत: प्रत्येक धर्म एक प्रकार से अन्य धर्मों द्वारा उपकृत होता है, क्योंकि एक धर्म दूसरे किसी धर्म से अथवा सभी धर्मों से खाद्य सामग्री ले सकता है। इस प्रकार हर धर्म प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है। कोई आध्यात्मिक सत्य किसी व्यक्ति या समुदाय विशेष की एकाधिकार सम्पत्ति नहीं हो सकता । भौतिक जगत अथवा अध्यात्म जगत के सारे सत्य सार्वभौमिक चिरन्तन हैं। भौतिक विज्ञानी या अध्यात्म विज्ञानी उन सत्यों का आविष्कार मात्र करते हैं। स्वाभाविक रूप से प्रत्येक धर्म एकता की ओर ले जाने वाला है। एकता की उपलब्धि में ही धर्ममत की परिपूर्णता है। इस एकता से च्युत होने पर धर्म का स्वभाव भ्रष्ट हो जाता है। विभिन्न धर्ममत 'एक' धर्म की ही विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। यह अद्वैत धर्म ही मानव जीवन को परिपूर्ण बनाता है और यह 'एक' की अनुभूति, जो धर्म का वास्तविक स्वरूप है, मानव जीवन का चरम लक्ष्य और परम कल्याण का मूल है।

धर्ममतों का आपसी विरोध धर्मविकृति की निष्कृष्टतम अभिव्यक्ति है

अब हमने समझ लिया कि प्रत्येक धर्म प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है और एक सम्प्रदाय का दूसरे सम्प्रदाय के साथ कोई विरोध नहीं है। विकृति के कारण विरोध का जन्म होता है और यह विरोध धर्म की सबसे निकृष्ट विकृति है। आज धर्म के नाम पर प्रचलित विकृत आचार-व्यवहारों के भीतर प्रवेश कर उसका मुखौटा हटा देने का और नष्ट कर देने का समय आ गया है। धर्म तो स्वरूपत: एक है, परन्तु आज हम देखते हैं, स्वार्थी और सुविधावादी लोग धर्म के नाम पर सम्प्रदाय-सम्प्रदाय के बीच भेद-भाव की सृष्टि करके मानव-समाज में तनाव बनाये रखते हैं। इस प्रकार वे धर्म के सारतत्त्व – अभेदतत्त्व को, जो मानवात्मा का वास्तविक स्वरूप है, विकृत और नष्ट करते हैं। एक अद्वय ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करने का अर्थ है एक अखण्ड सत्ता एवं अखण्ड मानव-जाति में विश्वास करना। आज मानवात्मा की वेदी पर हर धर्म की बलि दी जा रही है। वस्तुत: आज धर्म के नाम पर निरन्तर मानवात्मा का ही बलिदान हो रहा है।

रुचि के अनुसार धर्म

मानव-स्वरूप के बारे में ज्ञान, आध्यात्मिक एकता का विकास तथा मानव-सभ्यता एवं मानव-जाति के बीच एकता का होना, ये धर्म पर ही आधारित हैं। प्रत्यक्ष रूप से धर्म की कोई सामाजिक या राजनीतिक भूमिका नहीं है, इसलिये 'अल्पसंख्यक' या 'बहुसंख्यक' धर्म का कोई अर्थ नहीं है। इसलिये धर्म की दृष्टि से किसी सम्प्रदाय को बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक मानना व्यर्थ है। मनुष्य के स्वभाव में रुचि की विभिन्नता के कारण लोग भिन्न-भिन्न धर्म स्वीकार करते हैं। अत: पृथ्वी पर जितने लोग हैं, उतने ही धर्म का होना स्वाभाविक और अनिवार्य है। इसलिये धर्म के क्षेत्र में 'अल्पसंख्यक' और 'बहुसंख्यक' शब्द का प्रयोग विरोधाभासी है। ये उक्तियाँ और इस मनोभाव से उपजा दृष्टिकोण वास्तविक धर्म की दृष्टि से निकृष्ट प्रयोग है। प्रत्येक धर्म मानव में निहित अद्वितीय अखण्ड सत्ता तथा उसकी मौलिक एकता की अभिव्यक्ति है। धर्म के द्वारा ही मनुष्य अपने अन्तर्निहित एकत्व की अनुभूति और अभिव्यक्ति करने में सक्षम होता है। मानव एकता की उपलब्धि ही विभिन्न धर्मों का मूल उद्देश्य है, धर्म के इस मूल उद्देश्य को विकृत करके मानव-मानव के बीच भेद की सृष्टि करना मूढ़ता की पराकाष्ठा है।

किसी भी धर्म के लिये अपने विशेषाधिकार का दावा करना उचित नहीं है

अब तक हुई चर्चा से हम स्वाभाविक रूप से इस निष्कर्ष पर पहुचँते हैं कि कोई भी सम्प्रदाय अपने लिए विशेषाधिकार या विशेष सुख-सुविधाओं का दावा नहीं कर सकता, क्योंकि विशेषाधिकार स्वीकार करने का अर्थ है भेद-भाव को मान्यता प्रदान करना । किसी एक सम्प्रदाय का अपने लिए विशेष सुख-सुविधाओं का दावा करना परस्पर-विरोधी बात है तथा विविध सम्प्रदायों के बीच एकता स्थापित होने में बाधक है।

दूसरे शब्दों में, किसी एक धर्म का विशेष सुविधा के लिए दावा करने का अर्थ होगा, विश्वचेतना के सर्वतोमुखी प्रकाश को उसके मात्र एक अंश तक ही सीमित रखना। इस तरह का दावा किसी भी धर्म के लिए आत्मघातक है। धर्म तो जीवन के अभ्युदय और विस्तार का द्योतक है। धर्म ही जीवन के सर्वांगीण विकास को सम्भव करता है। अत: किसी धर्म को संकुचित करने का अर्थ हुआ वास्तविक धर्म और मानव-जीवन का विनाश करना। मनुष्य को विविध प्रकार की संकीर्णताओं से निकाल कर उदारता की ओर ले जाना धर्म का स्वभाव है। अन्त में वह आध्यात्मिक एकता की स्थापना के द्वारा पूर्णता की उपलब्धि सिखाता है। परन्तु आज हम चारों ओर जो कुछ देख रहे हैं, वह सब इस सत्य के विपरीत है। कोई भी धर्म यदि विशेषाधिकार का दावा करता है, तो वह आध्यात्मिक स्तर से जागतिक स्तर पर उतरता है, उसके सारतत्त्व को छोड़कर मात्र बाह्य रूप को महत्त्व देता है। इससे धर्म का सारतत्त्व नष्ट हो जाता है। धर्म के क्षेत्र में यदि कोई विशेषाधिकार मानना ही है, तो वह यह होगा कि प्रत्येक धर्म का यह मौलिक अधिकार है कि वह अन्य धर्मों की विशिष्ट बातों को अपना कर अपने को समृद्ध आौर परिपूर्ण करते हुए चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो जाए ।

प्रत्येक धर्म, जाने या अनजाने, इस एकता की ओर ही बढ़ रहा है। इसलिए ऐक्य को ही सभी धर्मों की पूर्णता का मापदण्ड कहा जा सकता है। कोई भी धर्म तभी पूर्णता

लाभ कर यथार्थ धर्म में परिणत होता है, जब वह एक अद्वय सार्वभौमिक सत्य के विविध पहलुओं को अपनाकर एकत्व की उपलब्धि करता है। ऐसा परिपूर्ण धर्म ही मानव के लिए सर्वोच्च अनुसरणीय आर्दश है।

एक अद्वैत धर्म ही वास्तविक 'धर्मान्तरण' तथा अभ्युदय की नींव है

अध्यात्म-शास्त्र के सिद्धान्त के फलस्वरूप धर्म पर एक उत्तरदायित्व आ पड़ा है। यह उत्तरदायित्व है मानवजाति को एक ऐसे स्थान तक पहुँचाने का, जहाँ वेद, बाइबिल, कुरान आदि कुछ भी नहीं है। जबकि यह यात्रा वेद, बाइबिल एवं कुरान के समन्वय से ही सम्भव होगी। मनुष्य को सिखाना होगा कि विभिन्न धर्ममत एक अद्वैत धर्म की ही विविध अभिव्यक्तियाँ हैं और सभी सम्प्रदायों का चरम लक्ष्य एकता है। इससे प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार अपने लिए उपयोगी कोई एक विशेष धर्ममत का चुनाव कर सकेगा। अत: बिना किसी दुविधा के हम कह सकते हैं कि एकत्व ही वास्तविक धर्मान्तिरण का चरम लक्ष्य है। इस प्रकार का 'धर्मान्तरण' सार्वजनीन अभ्युदय के लिए अनिवार्य है। किसी भी व्यक्ति को अपना धर्म त्याग कर अन्य धर्म अपनाने की जरूरत नहीं है। परन्तु प्रत्येक मनुष्य को अपने-अपने धर्ममत से धीरे-धीरे एक अद्वय सनातन तत्त्व या धर्मतत्त्व तक पहुँचना होगा। एकमात्र यही मानव की मुक्ति का पथ है। पथ का अवलम्बन करके ही मानव उस एकत्व तक पहुँच सकता है, 'जिस एकत्व में सारा विश्व अनुस्यूत है, जो सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है, जिसमें आत्मा प्रतिष्ठित है, जो आत्मा में ओत-प्रोत है, जो मनुष्य की आत्मा है, जिसे जान लेने पर और प्रकारान्तर से विश्व को अपनी आत्मा के रूप में जान लेने पर समस्त भय और दुख का अवसान हो जाता है और मनुष्य अनन्त मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। जहाँ कहीं भी प्रेम या अभ्युदय का विस्तार हुआ है, चाहे वह व्यष्टि के क्षेत्र में हो या समष्टि के क्षेत्र में, उसके मूल में समग्र मानवमात्र का एकत्वरूप यही एक चिरन्तन सत्य तथा इस एकत्व का बोध, अनुभूति और प्रयोग रहा है।' इस एकत्व का बोध, अनुभूति और प्रयोग मानव-जीवन में जितना व्यापक होगा, संसार में उतना ही प्रेम और समृद्धि का विस्तार होगा। यह एकत्व ही वास्तविक सर्वोदय का एकमात्र स्रोत है।

आध्यात्मिक एकत्व की उपलब्धि 'आध्यात्मिक' और 'व्यावहारिक' सत्ता के भेद को दूर करती है तथा जीवन एवं विचारों में एकता लाती है

आध्यात्मिक एकत्व की उपलब्धि सब प्रकार के भेद-भाव को दूर कर देती है तथा जीवन और विचारों में एकता लाती है। एक विश्वचेतना और उसके अनन्त पहलू मूलत: अभिन्न हैं; वह तो केवल मन है, जो विभिन्न अवसरों पर उसका विभिन्न प्रकार से साक्षात्कार करता है। अत: केवल विभिन्न पूजा-पद्धतियाँ ही नहीं, बल्कि सभी कर्म, जीवन-संग्राम की सभी पद्धतियाँ, सभी सर्जनात्मक प्रक्रियाएँ आत्मोपलब्धि के विविध उपाय हैं। 'पारमार्थिक' और 'व्यावहारिक' के बीच कोई भेद नहीं है; अत: मानव-सेवा और ईश्वर की उपासना में भी कोई भेद नहीं है। श्रम प्रार्थना का ही एक अन्य नाम है। विजय त्याग का ही पर्याय है। ग्रहण, अधिकार और संरक्षण उसी प्रकार कठोर दायित्व हैं, जैसे त्याग और परिहार। समग्र जीवन ही धर्म है। खेत, कारखाने, विद्यालय और रंगशाला भी ईश्वरोपलब्धि के उतने ही उत्कृष्ट स्थान हैं, जितने संन्यासी की पर्वत-गुफा और मन्दिर के द्वार। कला, विज्ञान और धर्म एक ही केन्द्रीय सत्य की अभिव्यक्ति के अलग-अलग पथ मात्र हैं। ○○○

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

इस चित्रांकन में स्वामी विवेकानन्द जी अपनी प्रिय शिष्या भगिनी निवेदिता को आशीर्वाद दे रहे हैं। स्वामीजी अलमोड़ा में ओकले हाउस, जिसे अभी भगिनी निवेदिता कौटेज कहते हैं, उसके पास स्थित देवदार वृक्ष के नीचे निवेदिता से कहा था, ''देखो, मुसलमानों के लिये नये चाँद का बहुत महत्व है। चलो हम नये चाँद के साथ नये जीवन की शुरुआत करें।'' इतना कहकर उन्होंने अपने हाथ उठाकर उन्हें आशीर्वाद दिया।

भगिनी निवेदिता का जन्म इस महीने की दिनांक २८ को है। यह आवरण-पृष्ठ उनकी स्मृति में निवेदित है।

अक्तूबर माह के जयन्ती और त्योहार

२	गाँधी जयन्ती
९	श्रीदुर्गा महाष्टमी
११	विजयादशमी
२९	काली पूजा
३०	लक्ष्मी पूजन (दीपावली)

आध्यात्मिक जिज्ञासा (१०)

स्वामी भूतेशानन्द

(ईश्वरप्राप्ति के लिये साधक साधना करते हैं, किन्तु ऐसी बहुत सी बातें हैं, जो साधक की साधना में बाधा बनकर उपस्थित होती हैं। साधक के मन में बहुत से संशयों का उद्भव होता है और वे संशय उसे लक्ष्य पथ में भ्रान्ति उत्पन्न कर अभीष्ट पथ में अग्रसर होने से रोकते हैं। इन सबका सटीक और सरल समाधान रामकृष्ण संघ के द्वादश संघाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने दिया है। इसका संकलन स्वामी ऋतानन्द जी ने किया है, जिसे हम 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

महाराज – अनुमान किसे कहते हैं? यदि वस्तु ज्ञात हो, और यदि उसे अतिदेश किया जाय, तो उसे अनुमान कहते हैं। हाँ, जैसे कह रहा हूँ – 'यत्र यत्र धूमः, तत्र तत्र वह्नि।'' जहाँ-जहाँ धुँआ है, वहाँ अग्नि है।'' अब जिसने धुँआ भी नहीं देखा हो, तो क्या उसके पास अनुमान सम्भव होगा? क्योंकि धुएँ के बारे में उसे कोई अनुमान ही नहीं है।

– इसे तो सभी स्वीकार करते हैं, जिसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं, उसे ही स्वीकार करते हैं। जिसे हम प्रत्यक्ष नहीं देखते, उसे सत्य क्यों कहेंगे?

महाराज – रस्सी में सर्प तो प्रत्यक्ष दीखता है, तो क्या वह सत्य है? प्रत्यक्ष होने से ही वह सत्य है, ऐसा नहीं है।

– किन्तु महाराज ! एक अनुभव होता है कि यह साँप है।

महाराज – क्या एक शब्द बोलने से ही हो गया?

– शब्द, स्पर्श या किसी प्रकार जहाँ नहीं पहुँच सकते, ऐसी किसी वस्तु को हम लोग स्वीकार नहीं करते।

महाराज – वहाँ पहुँचोगे कैसे? अपने स्वरूप में तुम कैसे पहुँचोगे? यदि तुम स्वरूप से भिन्न होते, तो तुम स्वरूप में पहुँच पाते। तुम तो स्वरूप में ही प्रतिष्ठित हो। तुम अपने को कैसे खोजकर पाओगे?

– स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं कि अस्वरूप में हैं, यही तो हमलोग नहीं समझ पा रहे हैं।

महाराज – नहीं समझ पा रहे हो, इस अज्ञान को दूर करने के लिये ही विचार है। सत्य को प्रकाशित करने के लिये विचार नहीं है। वास्तव में अज्ञान को दूर करने के लिये विचार है। इसे पकड़ कर रखो।

– किन्तु प्रत्यक्ष या अनुमानगम्य नहीं होने पर भी वह शास्त्रगम्य है, यह तो कहा जा रहा है, तब तो शास्त्र से हम लोग केवल शब्द ही जान रहे हैं।

महाराज – **''नेह नानास्ति किञ्चन''** यह तो शब्द है। इससे क्या समझ में आयेगा?

– उनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। वही बात कह रहा हूँ कि वहाँ हमलोग यही सिद्धान्त सुन रहे हैं।

महाराज – सिद्धान्त तुमलोग सुन रहे हो। इससे तुमलोगों के अज्ञान की निवृत्ति होगी। किन्तु ब्रह्मानुभूति नहीं होगी। विचार अज्ञान की निवृत्ति के लिए होगा। ब्रह्म वेद। वेद अज्ञान की निवृत्ति के लिये हैं। इसीलिये कहते हैं – **''तत्र वेदा अवेदा भवन्ति''** – वहाँ वेद अवेद हो जाते हैं। समझा तो ?

प्रश्न – ठाकुर ने स्वामीजी के सम्बन्ध में देखा था कि वे अखण्ड धाम के सप्तर्षि मंडल के एक ऋषि हैं। किन्तु उसके बाद उनकी इतनी परीक्षा क्यों ली?

महाराज – शास्त्र, युक्ति और अनुभूति तीनों को मिलाकर विचार करना चाहिए। परीक्षित होने के लिये शास्त्र सम्मत, युक्ति सिद्ध और अनुभवगम्य होना चाहिए।

– क्या आध्यात्मिक दर्शन के बाद भी युक्ति की आवश्यकता है?

महाराज – है क्या ! नहीं होने से एक पागल कहेगा, उसका अनुभव सत्य है। तो क्या उसे स्वीकार करना पड़ेगा?

– 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' में है, शुकदेवजी का ज्ञान होने के बाद भी संशय नहीं गया। उन्हें राजा जनक जी के

पास भेजा गया था। ब्रह्म का अनुभव भी क्या युक्ति और शास्त्र से मिलाना होगा?

महाराज – नहीं मिलाने से वह अनुभव कल्पना है या सत्य है, इसे कैसे जानोगे? वैसे उस प्रसंग में कहा गया है –

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

(मुण्डकोपनिषद, २/२/८)

फिर भी विचार करने के लिये कहा गया है – शास्त्र, युक्ति और अनुभव, तीनों के द्वारा विचार करना।

– ठाकुर ने पहले जगन्माता का दर्शन किया। किन्तु भैरवी ब्राह्मणी के आने पर पूछते हैं – देखो, क्या ये सब हमारा पागलपन है? स्वयं ही जिज्ञासा करते हैं।

महाराज – देखो, अवतार जब मानव-शरीर धारण करते हैं, तब उनमें से मानवीय भाव प्रकट होता है। श्रीकृष्ण देख रहे हैं, युद्ध में शत्रुओं ने उग्रसेन का वध कर दिया। उन्होंने कहा, इतने सुरक्षित मथुरा में यह कैसे सम्भव हुआ? उन्होंने दिव्य दृष्टि से देखा, यह माया है। श्रीराम स्वर्णमृग के पीछे दौड़ रहे हैं। ये सभी मानव धर्म हैं।

– ठाकुर जब "माँ दर्शन दो" कहकर मुख रगड़ रहे हैं, क्या यह भी अभिनय है?

महाराज – ठाकुर ने कहा है – "यहाँ ये सब कुछ दृष्टान्त दिखाने के लिए है।"

– क्या तब वे सचमुच माँ का दर्शन नहीं कर पा रहे थे?

महाराज – अभिनय का अर्थ है – यह सत्य नहीं है, इसे जानते हुए भी उसे करना। जो राजा का अभिनय कर रहा है, वह जानता है कि वह राजा नहीं है। किन्तु राजा का वस्त्र पहना हुआ है। अवतार-पुरुष जानते हैं कि वे मनुष्य नहीं है, तब भी उन्होंने मनुष्य-शरीर रूपी वस्त्र पहन लिया है, इसीलिए मनुष्य के समान आचरण कर रहे हैं। ठाकुर कहते हैं – क्या मुझे अहंकार है? मास्टर महाशय कहते हैं – मानव कल्याण के लिये थोड़ा-सा रखा है। ठाकुर सुधार कर कहते हैं – नहीं, मैंने नहीं रखा, माँ ने रखा है।

– हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्दजी) ठाकुर से जिज्ञासा करते हैं – कैसे हैं? ठाकुर कहते हैं – देखो न, कष्ट हो रहा है। हरि महाराज कहते हैं – मैं तो देख रहा हूँ कि आप आनन्द सागर में डूब रहे हैं। दो-तीन बार ऐसा कहने पर ठाकुर कहते हैं – अरे, इसने तो पहचान लिया।

महाराज – यही तो अवतार की विशेषता है। ठाकुर कहते हैं इसके भीतर एक भक्त और एक भगवान दोनों हैं। कभी वे भगवान के भाव में रहते हैं और कभी भक्त के भाव में रहते हैं। जब वे कहते हैं – मैं कुछ नहीं हूँ, मैं कुछ नहीं हूँ, तब भक्त-भाव में कह रहे हैं। जब कहते हैं, तुम लोग क्या चाहते हो, मैं सब कुछ दे सकता हूँ तब भगवान के भाव में हैं।

– महाराज, वचनामृत में है – ठाकुर कहते हैं, भाव में नहीं रहने से हाथ टूट गया। इसका क्या अर्थ है? हमलोगों की धारणा है कि भाव में रहने से ही हाथ टूटने की सम्भावना है।

महाराज – प्रकृति भाव में उनका आलिंगन करने गये, तभी हाथ टूट गया। वहाँ ऐसा सोचने से नहीं होगा। 'भाव में नहीं रहने से' का अर्थ है, भावमुख में नहीं रहने से। जगन्माता ने ठाकुर को लोक कल्याण के लिए 'भावमुख' में रहने की आज्ञा दी थी। अर्थात् भावस्थ होने के लिए मना किया था। यहाँ ठाकुर वैसा न कर भावस्थ हो गये। इसीलिए बाह्यज्ञान नहीं रहने के कारण गिरकर हाथ टूट गया। जहाँ जो सीमा दिखा रहे हैं, उसी सीमा में रहना होगा।

– ठाकुर कहते हैं, अहंकार के नाश करने के लिये हाथ टूटा है। इसका क्या अर्थ है?

महाराज – कहना बड़ा कठिन है। नर-लीला समझना बहुत कठिन है। ठाकुर बार-बार कहते हैं – साढ़े तीन हाथ की सीमा में असीम छिपा है, यह समझना कठिन है। किन्तु एक बात है – नरलीला करना या नित्य में रहना, दोनों ही जगन्माता के निर्देश से हो रहा है, यदि उसका थोड़ा-सा भी उल्लंघन कर नित्य में भावस्थ होकर रहने की इच्छा करना या जाना, इस अंहकार को भी समाप्त करने के लिए है। **(क्रमशः)**

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज ।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ।।

हे तात! यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो विषयों को विष के समान त्याग दो और क्षमा, सरलता, दया, सन्तोष एवं सत्य का अमृत के समान सेवन करो।

– (अष्टावक्र गीता, १.१)

आधुनिक मानव शान्ति की खोज में (२)

स्वामी निखिलेश्वरानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन, वड़ोदरा

आधुनिक युग की एक बड़ी समस्या है – नई और पुरानी पीढ़ी के बीच का अन्तर 'जनरेशन गेप'। "मेरे पिताजी मुझे समझते ही नहीं हैं, वे कहते हैं, तू 'लॉ' की परीक्षा देकर वकील बन जा, मेरे ऑफिस में आकर सब सीख ले, पर मुझे तो कानून में रुचि नहीं है। मुझे तो ... और ... करना है। आप पिताजी को समझाइए।" इस प्रकार कितने ही युवक अपने माता-पिता की शिकायत लेकर आते हैं। दूसरी ओर माता-पिता की शिकायत होती है कि संतानें उनका कहना नहीं मानती हैं। इससे पैदा होता है संघर्ष, खींचतान, तनाव और मतभेद। माता-पिता और बुजुर्ग चाहते हैं कि वे जैसा कहें, वैसा संतानों को करना चाहिये और युवा पीढ़ी वैसा करने को तैयार नहीं होती है। उन्हें अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति के अनुसार जीवन में कुछ करना है। युवकों को लगता है कि माता-पिता निरन्तर टोकते रहते हैं। इसलिये वे चिढ़ने लगते हैं। इस प्रकार दो पीढ़ी के बीच का संघर्ष परिवार में अशान्ति पैदा कर देता है और घर का वातावरण कलुषित हो जाने से सम्पन्न परिवार में भी सुख-शान्ति नहीं रहती है।

मीडिया के आक्रमण के कारण विश्वभर की घटनाओं, परिवर्तनों की जानकारी तत्काल होने से आजकल बालक जल्दी वयस्क हो जाता है और यह "जनरेशन गेप" बहुत जल्दी आ जाता है। मनोविज्ञान की एक प्रोफेसर महिला ने अपने संभाषण में बताया था – "पाँच वर्ष पहले जब मैं कॉलेज में 'लेक्चरर' के रूप में आयी थी, तब मैं अपने आपको आधुनिक मानती थी और जनरेशन गेप के बारे में व्याख्यान देती थी। पर अब केवल पाँच वर्ष में ही मेरी छात्राएँ कहती हैं कि मेरे विचार, रहन-सहन पुराने जमाने के हैं। इतनी तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं कि इन पाँच वर्षों मे ही "जनरेशन गेप" का अनुभव हो रहा है !" पश्चिम के देशों में और अमेरिका में तो अब छोटे बच्चों को भी माता-पिता कुछ कह नहीं सकते हैं। क्योंकि वे अब माता-पिता के विरुद्ध पुलिस में शिकायत कर सकते हैं ! इस "जनरेशन गेप" के कारण परिवार में प्रेम, त्याग, सम्मान, समर्पण आदि के मूल्य कम होते जा रहे हैं। इसलिये सुख-शान्ति और आराम देने वाले घर, आग की भट्टी जैसे होते जा रहे हैं।

मनुष्य की सुख-शान्ति को ग्रसने वाला एक भयंकर राक्षस इस आधुनिक युग में पैदा हो गया है। यह राक्षस इतना विकराल है कि इसका पेट कभी भरता ही नहीं है। यह है 'उपभोक्तावाद'। आधुनिक मानव उपभोक्तावाद के चंगुल में भयंकर रूप से फँस गया है। जैसे-जैसे सुख-सुविधा के उपकरण बढ़ते और विकसित होते जा रहे हैं, वैसे-वैसे उन्हें पाने का पागलपन मनुष्य में बढ़ता जा रहा है। बहुमूल्य गाड़ियाँ, कीमती वस्त्र, मूल्यवान आभूषण, सुखभोग के मनोरंजन के साधन, डीलक्स मकान, हवाई जहाजों की आरामदायी यात्राएँ, आधुनिक फैशन वाले मोबाइल, विदेशों का वैभवीप्रवास, इन सब का पागलपन धन-सम्पत्ति के साथ-साथ बढ़ता जाता है। इन सबकी पूर्ति के लिये अधिक धन कमाने की आवश्यकता होती है, जब अधिक धन आता है, तब और भी अधिक उपभोग की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। इस प्रकार सम्पत्ति और उपभोग का विषचक्र बन जाता है और यह चक्र उत्तरोत्तर बड़ा-से-बड़ा होता जाता है।

आज के अधिकांश लोग मानते हैं कि –

M is directly proportinate to H

M अर्थात् Money रुपये, धन सम्पत्ति।

H अर्थात् Happiness - सुख।

अर्थात् जितना अधिक धन होगा उतनी अधिक सुख-शान्ति मिलेगी, अधिकांश लोगों की यही मान्यता होने से वे धन अर्जित करने के लिये रात-दिन कठिन परिश्रम करते हैं, भाग-दौड़ करते रहते हैं। उनके जीवन का मुख्य ध्येय ही अधिक-से-अधिक धन कमाना बन जाता है। वे किसी भी प्रकार से धन-संचय में लग जाते हैं और इस प्रकार धन पाने की लालसा उन्हें भ्रष्ट बना देती है। यदि एकबार भी धन कमाने का अनैतिक मार्ग पकड़ लिया, तो पहला परिणाम होता है आन्तरिक अशान्ति और दूसरा परिणाम होता है जीवन की असुरक्षा। एक बार इस मार्ग पर चल पड़े, तो लौट नहीं सकते हैं, यदि लौटना चाहे भी, तो उसके साथी उसे जीवित वापस जाने नहीं देते हैं। ऐसे भ्रष्ट मार्ग से ढेरों सम्पत्ति मिल जाती है, पर जीवन का सच्चा सुख और शान्ति कभी नहीं मिलती है। तो, ऐसी सम्पत्ति किस काम की?

इसके अलावा जिन्हें पैसे का पागलपन हो जाता है, वे उससे पुन: बाहर नहीं निकल सकते। जितनी सम्पत्ति अधिक होगी, उतनी ही इच्छाएँ अधिक होगी। अधिक धन कमाकर संसार के प्रसिद्ध धनवानों की सूची में अपना प्रथम नाम लिखवने का पागलपन भी आजकल धनवानों में बढ़ता जा रहा है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में आज के युग में एक नया शब्द एफ्लुएन्जा (Affluenza) जोड़ा गया है, यह एक प्रकार के बुखार का नाम है। पर यह शब्द है 'ऐफलुएन्जा'। यह नया रोग, अलग प्रकार का है। यह ''एफलुअन्ट'' लोगों को होता है, अर्थात् समृद्ध लोगों का यह रोग है। इस रोग में समृद्धि प्राप्त करके, उसे और अधिक पाने की भूख बढ़ती जाती है। यह लालसा मनुष्य को पागल बना देती है। उसे यदि कुबेर का भंडार मिल जाए, तो भी कम पड़ेगा। असंतोष की यह भूख आदमी को आर्थिक प्राणी बना देती है और उसे पैसे के सिवाय कुछ दिखाई नहीं देता है, क्योंकि पैसा कैसे प्राप्त करें, इन्हीं विचारों में रात-दिन लगा रहता है। आज के इस उपभोक्तावाद ने एक नया मानसिक रोग पैदा कर दिया है। उसका नाम है, 'न्यूगीन न्यूरोसीस'। इसमें मनुष्य के सारे कार्य आर्थिक मापदण्ड से ही होते हैं, जिसमें मनुष्य पैसे का गुलाम बन जाता है। मानो पैसे का भूत उसके सिर पर सवार हो जाता है, पैसे के सामने पारिवारिक सम्बन्ध, नैतिक जीवन आदि सब कुछ गौण हो जाता है। यह ''हीडोनीस्टीक पेरेडोक्स'' अस्तित्व में आ गया है। इस भोगवाद के राक्षस ने अपना विकराल मुँह खोला है और उसकी विकराल दाढ़ों में अच्छे-अच्छे लोग पीसे जा रहे हैं।

जापान में समृद्धि बढ़ाने के लिये वहाँ के कर्मचारियों और अधिकारियों ने दिन-रात परिश्रम किया और अमेरिका के उद्योगों को पीछे छोड़ दिया। किन्तु परिणाम क्या हुआ? समृद्धि बढ़ गई, किन्तु शान्ति खो गई। वहाँ उत्पादन बढ़ाने के लिये महीनों तक अधिकारी, कर्मचारी फैक्ट्री में ही रहते थे, फिर महीनों बाद जब वे अपने घर गये, तो देखा कि उनकी पत्नियाँ कहीं चली गईं। बच्चे उच्छृंखल हो गए। परिवार टूट गए। धर्म छूट गया। संस्कार लुप्त होने लगे और भोगवाद आ गया था। इस सदमें को सहन नही कर सकने के कारण कई लोग मानसिक रोग के शिकार बन गये। जापान के स्वास्थ्य मन्त्रालय के सर्वेक्षण के अनुसार जापान में ४४ वर्ष से बड़ी उम्र के ४२ प्रतिशत अधिकारी मानसिक रूप से अस्वस्थ हो गये थे। संसार में सबसे अधिक समृद्ध माने जाने वाले देशों में जहाँ प्रतिव्यक्ति आय सबसे अधिक है, आत्महत्या और मानसिक रोगों की संख्या सबसे अधिक है। अत: कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे समृद्धि बढ़ती है, वैसे-वैसे सुख बढ़ता नहीं है, वरन् कम होता है। पुराणों में राजा ययाति की कथा सुप्रसिद्ध है। वह वृद्ध हो गया, किन्तु उसकी भोग वासना कम नहीं हुई। उसके अनुरोध पर उसके युवा पुत्र नहुष ने अपना यौवन पिता को दे दिया। पुन: प्राप्त युवावस्था में उसने फिर से बहुत भोगों का सेवन किया, अन्त में यह युवावस्था भी चली गई और फिर से वृद्धावस्था आ गई, फिर भी उसकी भोगवृत्ति शान्त नहीं हुई। तब उसे ज्ञान हुआ कि जिस प्रकार अग्नि में घी की आहुति देने से अग्नि की ज्वाला और लौ बढ़ती जाती है, उसी प्रकार भोग करने से भोगवृत्ति और बढ़ती जाती है, इच्छाओं का कभी अन्त नहीं होता है। इस संदर्भ में टॉलस्टाय की एक कहानी प्रसिद्ध है। एक व्यक्ति को कहा गया कि सूर्यास्त तक वह जितनी दूर तक दौड़ सकेगा, उतनी जमीन का वह मालिक हो जाएगा। इसलिये वह आदमी बहुत तेजी से दौड़ने लगा। हाँफते-हाँफते भी दौड़ता रहा, मुँह से फेन आने लगा, तब भी वह यह सोचकर दौड़ता रहा कि 'बस इतना और दौड़ लूँ, तो इतनी अधिक जमीन मेरी हो जाएगी।' पैर लड़खड़ाने लगे तब भी वह अधिक जमीन पाने के लालच में दौड़ता रहा। शाम होने तक उसने कितनी अधिक जमीन प्राप्त कर ली थी? सूर्य की अन्तिम किरण पड़ रही थी, तब वह गिर पड़ा और थोड़ी देर में धौंकनी की तरह चल रही उसकी श्वास रुक गई और वह वहीं मर गया। जब उसे दफनाया गया, तब केवल छ: फीट जमीन उसकी थी। यह कहानी मानव के असंतोष और सम्पत्ति की उसकी भूख को दर्शाती है। यदि समय होता भी है, तो तन और मन भोगने के योग्य नहीं रहते हैं।

अधिकाधिक सम्पत्ति पाने की दौड़ में मनुष्य अपने वर्तमान के सहज सुखों और स्वाभाविक आनन्द को खो देता है। इस सन्दर्भ में एक माँझी की सुन्दर कहानी है। एक दिन दोपहर के समय एक माँझी अपनी नाव का लंगर डालकर नदी के किनारे वृक्ष की छाया में आराम से सो रहा था। तभी वहाँ एक व्यापारी आया। उसने माँझी को जगाकर कहा, ''अरे, तू इस प्रकार दोपहर में क्यों सो रहा है? तुझे तो दूर-दूर तक जाना चाहिये और बहुत-सी मछलियाँ पकड़नी चाहिये।''

"बाबूजी, बात ऐसी है कि आज सुबह एक बहुत बड़ी मछली मिल गयी, मुझे आज के गुजारे लायक धन मिल गया है, इसलिए आराम कर रहा हूँ।"

"अरे, तू कैसा मूर्ख है ! तू अधिक मछलियाँ पकड़ेगा, तो तुझे अधिक पैसे मिलेंगे।"

"किन्तु इतने पैसों का क्या करूँगा?"

"उसे जमा करना और जब अधिक धन संचित हो जाय, तब मेरे पास आना। मैं तुझे शेयर में अलग-अलग योजनाओं में पैसे कैसे निवेश करते हैं, वह बताऊँगा और उससे तुझे नियमित रूप से प्रतिमाह धनराशि मिलती रहेगी।"

"फिर?"

"फिर तुझे कोई चिन्ता नहीं रहेगी, तू निश्चिन्त होकर सो सकेगा।"

"बाबूजी, अभी तो निश्चिन्त होकर ही सोया था।"

व्यापारी माँझी की मूर्खता पर बड़बड़ाता हुआ चला गया। परन्तु नाववाला जो समझता था, वह व्यापारी नहीं समझ सका। आज अधिकांश लोग इस व्यापारी के समान हैं, जो भविष्य की निश्चिन्त नींद के लिये वर्तमान की आनन्द भरी नींद को छोड़कर अधिक धन की लालसा में दौड़ रहे हैं और जब धन मिल जाता है, तो नींद ही उड़ जाती है। आज के उपभोक्तावाद के राक्षस ने भविष्य के मोहक भ्रमजाल की ऐसी रचना की है कि अच्छे-अच्छे मनुष्य भी इसमें फँस कर वर्तमान की सुख-शान्ति को खो देते हैं। इसलिये सुख-शन्ति की खोज में निकले आधुनिक मानव को उपभोक्तावाद के राक्षस के चँगुल से मुक्त होना पड़ेगा। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक एरिक फ्रोम के मतानुसार मानव आज उपभोक्तावाद का शिकार होकर स्वयं एक भोग्य पदार्थ बन गया है। तब उसे सच्चा सुख और शान्ति किस प्रकार मिल सकती है? शान्ति की खोज में वह बाहर इधर-उधर भटक रहा है, पर बाहर की सुख-शान्ति तो क्षणिक है। मनुष्य भूल गया है कि सच्ची शान्ति और सच्चा आनन्द तो उसके भीतर ही है। कबीर का सुन्दर भजन है "मोको कहाँ तू ढूँढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास में ..."। मनुष्य के भीतर ही शाश्वत सुख और शान्ति का स्रोत है। हमारे दैनंदिन जीवन में शाश्वत शान्ति कैसे मिल सकती है, अब हम इस विषय पर चर्चा करेंगे। **(क्रमशः)**

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

२९९. लोभ बढ़े जामें चित दीन्हें

एक दिन तुर्की संत ज़कीर नदी किनारे टहल रहे थे, तभी उन्हें एक सेब पड़ा हुआ दिखाई दिया। उसे उठाकर वे खाने ही वाले थे कि उनके अन्तर्मन ने उन्हें झकझोर दिया –"तुम्हें इसे खाने का कोई अधिकार नहीं है। तुम्हें इसके स्वामी को इसे वापस कर देना चाहिए।" उन्होंने उस सेब को झोले में रख लिया और चारों ओर देखने लगे। उन्हें एक सुन्दर बगीचा दिखाई दिया। माली के पास जाकर उन्होंने झोले से सेब निकालकर पूछा , 'क्या यह सेब तुम्हारे बगीचे का है?" माली के द्वारा हाँ कहने पर उन्होंने सेब देने के लिए हाथ बढ़ाया, तो माली ने कहा, 'मैं तो इस बगीचे की रखवाली करता हूँ। इसकी मालकिन समीप ही रहती हैं। आप इसे उन्हें दे दीजिए।"

संत ज़कीर ने दरवाजा खटखटाया। मालकिन ने दरवाजा खोला, तो उन्होंने सारी घटना उन्हें बतायी और उनसे सेब लेने की विनती की। तब मालकिन ने कहा, "आप बड़े ही भोले हैं। एक तुच्छ सेब को देने के लिए आप यहाँ तक आ गए। जब यह सेब आपको मिला था, तो चुपचाप खा लेते।" संत ने कहा 'आप भले ही इसे तुच्छ समझती हों, किन्तु माली ने पसीना बहाकर पेड़ को फल देने के योग्य बनाया है। इस सेब पर आपका मालिकाना हक होने के कारण मैं इसे अपने पास नहीं रख सकता। यह कहकर उन्होंने सेब को लेने के लिए मालकिन को विवश किया और वे लौट गए।

लोभ एक मानवीय मनोविकार है। यह जीभ का चटोरापन है। लोभ मनुष्य की संग्रहवृत्ति को बढ़ावा देता है। लोभ के कारण मनुष्य की कभी तृप्ति नहीं होती। अनीति, अधर्म, असन्तोष, अन्याय और अनर्थकारी कृत्यों के मूल में लोभ ही होता है। लोभ मानव-जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है। इसके कारण ही परिवार में विखंडन होता है , मानव-मानव में झगड़े होते हैं, अन्तर्कलह होता है, समाज में विद्वेष होता है, राष्ट्रीय असुरक्षा होती है और सब प्रकार से विनाश होता है। इसलिए विवेकशील मनुष्य को अल्पसुख के लिए लोभवृत्ति का दमन करना चाहिए।

OOO

गीतातत्त्व चिन्तन (२)

(आठवाँ अध्याय)

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के संस्थापक सचिव थे। उनका 'गीतातत्त्व चिन्तन' भाग-१,२, अध्याय १ से ६वें अध्याय तक पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और लोकप्रिय है। ७वाँ अध्याय का 'विवेक ज्योति' के १९९१ के मार्च अंक तक प्रकाशित हुआ था। अब प्रस्तुत है ८वाँ अध्याय, जिसका सम्पादन रामकृष्ण अद्वैत आश्रम के स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने किया है)

अर्जुन उवाच – अर्जुन पूछता है प्रश्न–

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किं अध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तं अधिदैवं किमुच्यते ।।१।।
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।।२।।

– अर्जुन उवाच (अर्जुन ने पूछा) पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम), तत् (वह) ब्रह्म किं (ब्रह्म क्या है), अध्यात्मं किं (अध्यात्म क्या है), कर्म किं (कर्म क्या है), अधिभूतं च किं प्रोक्तम् (और अधिभूत किसे कहते हैं),

"अर्जुन ने पूछा - हे पुरुषोत्तम वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, और अधिभूत किसे कहते हैं तथा अधिदैव किसे कहा गया है।

मधुसूदन (हे मधुसूदन) अत्र (यहाँ) अधियज्ञः कः (अधियज्ञ कौन है) और वह अस्मिन् देहे (इस देह में) कथम् (कैसे है) च (तथा) नियतात्मभिः (युक्त चित्तवाले पुरुषों द्वारा) प्रयाणकाले (अन्त समय में), आप कथम् (किस प्रकार) ज्ञेयः असि (जानने में आते हैं)

हे मधुसूदन ! इस देह में अधियज्ञ कौन है? इस देह में वह किस प्रकार से अवस्थित है, और मरणकाल में संयतचित्त व्यक्तियों के द्वारा आप किस प्रकार जानने में आते हैं?

अर्जुन ने कहा – महाराज, अभी तक गाड़ी ठीक चल रही थी। बात तो कुछ-कुछ समझ में आ रही थी। पर आपने कुछ नए-नए शब्द कह दिये, इसीलिए मैं गड़बड़ा गया। आप कहते हैं कि वह जो आपका सहारा लेकर साधना करता है, वह उस ब्रह्म को जान लेता है। तो **किं तद्ब्रह्म -** वह ब्रह्म क्या है ? **किं अध्यात्मं?** आपने कहा कि वह समूचे अध्यात्म को जान लेता है। तो यह अध्यात्म क्या है? **किं कर्म पुरुषोत्तम?** हे पुरुषोत्तम ! आप यह भी कहते हैं कि वह समग्र कर्मों का ज्ञाता भी बन जाता है। तो वह कर्म क्या है, जिसका वह ज्ञाता बनता है। फिर **अधिभूतं किं प्रोक्तं अधिदैवं किमुच्यते** – आपने अधिभूत-अधिदैव की बात कही। आप जरा समझाकर बताइए कि आपका तात्पर्य इन शब्दों से क्या है? **अधियज्ञं कथं कोऽत्र** – यह अधियज्ञ कौन है और कहाँ है? **अत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन**। यह जो हमारी देह है, इसके भीतर में अधियज्ञ कौन है? और वह कहाँ है? हे मधुसूदन ! **प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः**। आपने कहा कि जो नियत आत्मा है, ऐसा व्यक्ति प्रयाणकाल में मृत्यु के समय भी आपको जानता है। तो वह आपको मृत्यु के समय किस प्रकार जानता है? जानने का क्या मतलब है? इसको हम गीता का सप्तप्रश्न कहते हैं। तो ये कौन-से सात प्रश्न हैं? पहला तो वह ब्रह्म क्या है? दूसरा वह अध्यात्म क्या है? तीसरा वह कर्म क्या है? चौथा अधिभूत किसे कहते हैं? पाँचवाँ अधिदैव किसे कहा जाता है? छठवाँ अधियज्ञ कौन है और वह अधियज्ञ कहाँ पर है? अब **प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः**। मृत्यु के समय ऐसा व्यक्ति कैसे जानता है? किस प्रकार से आपका बोध प्राप्त करता है? ये सात प्रश्न अर्जुन ने उठाये। अर्जुन भगवान कृष्ण से प्रार्थना करता है कि आप इन सातों प्रश्नों के उत्तर दीजिए। भगवान यहाँ पर उन सातों प्रश्नों के उत्तर देते हैं। अब हमारे मन में प्रश्न आता है कि इन प्रश्नों को उठाने का प्रयोजन क्या है? प्रश्नों को उठाने का प्रयोजन केवल इतना है कि इस आठवें अध्याय में, जिसका नाम अक्षरब्रह्मयोग है, अक्षरब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है। अक्षर किसको कहते हैं? जिसमें किसी प्रकार का क्षरण नहीं है, जो अविनाशी है।

ब्रह्म किसको कहते हैं? ब्रह्म का तात्पर्य है – वह विस्तार जिसको हम सत्य के नाम से पुकारते हैं। ब्रह्म बृंह् धातु है। बृंह् धातु का मतलब होता है फैलना। तो ब्रह्म का मतलब हुआ ऐसा फैलाव, जिससे अधिक फैलाव की कल्पना आप कर ही न सकें। विश्व के जितने फैलाव की आप कल्पना कर सकते हैं, अधिक-से-अधिक, मानो उसे ब्रह्म कहा गया है। इसी फैलाव को हम सत्य कहते हैं। यदि आपने 'The Expanding Universe' किताब पढ़ी हो, तो वहाँ पर यह कहा गया है कि विश्व फैल रहा है। और मानो अन्तरिक्ष में फैलता जा रहा है। यह अन्तरिक्ष कहाँ है? यह विश्व कहाँ है? ये जो कल्पनाएँ हैं, धारणाएँ हैं, आज विज्ञान के क्षेत्र में आकर बड़ी जटिल हो गयी हैं। इन धारणाओं को भी हमारे शास्त्रों में सामने रखा गया। इन धारणाओं का चिन्तन किया गया। तो ब्रह्म शब्द से उस सत्य का बोध होता है, जिससे बढ़कर आप कल्पना कर ही नहीं सकते और जिसके अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है। यहाँ कहा गया – अक्षरब्रह्म। तो क्या कोई क्षरब्रह्म भी है। हाँ, है। ब्रह्म का एक भाग है, उसमें क्षरण होता है, यह है विश्व। इस विश्व का शनैः शनैः क्षरण होता है। परन्तु जिसमें किसी भी प्रकार का क्षरण नहीं होता, उसे सनातन सत्य के नाम से पुकारा गया है, उसी को ईश्वर कहा गया। उसी को ब्रह्म कहा गया। यहाँ यह बताने की चेष्टा करेंगे कि ब्रह्म कहने से क्षर का बोध, अक्षर का बोध, नाश का भी बोध और अविनाशी का भी बोध, ये दोनों बोध होते हैं। इसीलिए यहाँ पर विशेषण लगाया अक्षरब्रह्म। वह सत्य जिसमें किसी प्रकार का क्षरण नहीं होता है। जिसके भीतर विकास की प्रक्रिया नहीं होती है। तो ऐसे अविनाशी सत्य के साथ हम कैसे युक्त हो सकते हैं? सत्य के दो रूप होते हैं। एक को कहते हैं नित्यसत्य और दूसरे को कहते हैं अनित्य सत्य। जैसे एक व्यक्ति है। उसके हम पचास या सौ फोटो ले लेते हैं। वह जिस समय पैदा हुआ, तब हमने फोटो लिया। जब वह दो साल का था, तब फोटो लिया। जब तीन पैर की गाड़ी को पकड़कर चल रहा था, तब फोटो लिया। इसी प्रकार कई मुद्राओं में उसकी फोटो लेते हैं। अन्तिम अवशिष्ट रह जाता है। तो यह अन्तिम चित्र है। अब ये जो सौ चित्र हैं एक ही व्यक्ति के, ये सत्य हैं कि नहीं हैं। ये एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते हैं। सौ रूप दिखाई दे रहे हैं। आप कहेंगे कि ये सभी के सभी सत्य तो हैं। परन्तु नित्य नहीं हैं। ये रूप नित्य नहीं हैं, इन रूपों में परिवर्तन होता है। परन्तु ये जितने भी रूप दिखाई देते हैं, इनके भीतर में एक रूप ऐसा है, जिसमें कोई परिवर्तन नहीं है। वह जो छोटा-सा बालक और वृद्ध जो ९० वर्ष की उम्र में था, हम कहते हैं कि ये सारे के सारे विभिन्न चित्र उस एक ही व्यक्ति के हैं। जो अपने भिन्न-भिन्न रूपों के बावजूद एक ही व्यक्ति की प्रतीति कराता है। इसीलिए हमने कहा कि सत्य के दो प्रकार हैं। एक नित्यसत्य और दूसरा अनित्यसत्य। तो यहाँ पर भी एक अक्षरब्रह्म के साथ उस नित्यसत्य के साथ योग कैसे हो सकता है? उसका उपाय यहाँ पर भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रदर्शित किया गया है। वैसे तो अलग-अलग उपायों से उसी ब्रह्म के दर्शन का उपाय प्रदर्शित किया गया है। इस आठवें अध्याय में अक्षरब्रह्म पर विशेष जोर दिया गया है। उस अक्षरब्रह्म के दर्शन का उपाय, उसके साक्षात्कार का उपाय, हमारे समक्ष रखा गया है। हमने कहा कि उसके लिए अर्जुन ने ये सात प्रश्न उठाये। भगवान श्रीकृष्ण ने ही ७वें अध्याय के अन्त में उनका संकेत दे दिया। और उस संकेत को ग्रहण कर अर्जुन सातों प्रश्न उठाता है। अब भगवान उत्तर में यही बताते हैं कि अन्त समय में कैसे मनुष्य मुझे ही प्राप्त करता है, यह बताने के लिए उन्होंने कितनी सारी भूमिका रची। उस भूमिका पर थोड़ा-सा चिन्तन कर लें। केवल ये शब्द मात्र हैं। आप शब्दों से घबड़ाइएगा नहीं। उनके जो अर्थ हैं, जब आप उनको सुनेंगे तो ऐसा लगेगा कि शब्द जितना दुरूह मालूम पड़ रहा है, अर्थ उतना दुरूह नहीं है। अर्जुन के सात प्रश्नों के उत्तर में श्रीभगवान कहते हैं – **(क्रमशः)**

कर्म तो अवश्य ही करना चाहिए । कर्म से मन अच्छा होता है । किन्तु जप, ध्यान, प्रार्थना भी विशेष रूप से आवश्यक है । कम से कम सबेरे-शाम एक बार बैठना ही चाहिए । वह मानो नाव की पतवार है । सन्ध्या के समय थोड़ी देर बैठने से सारे दिन अच्छा-बुरा क्या किया, क्या नहीं, इसका चिन्तन हो जाता है ।

– श्रीमाँ सारदा देवी

गुरु-भक्ति का अद्भुत उदाहरण : बालक एकलव्य

हमारी भारतीय संस्कृति के अनुसार किसी भी विद्या को ग्रहण करने के लिए गुरु अथवा शिक्षक की आवश्यकता होती है। गुरु जिस मार्ग से स्वयं गए हैं, उसका मार्गदर्शन करते हैं। मार्ग में आने वाले संकट और उनसे निकलने के उपायों की वे ठीक समय पर जानकारी दे देते हैं। शिष्य अथवा छात्र को चाहिए कि वह विनम्रतापूर्वक गुरु के पास जाए और उनसे विद्या की याचना करे। आधुनिक समय में लौकिक विद्या को सीखने के लिए इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। किन्तु प्राचीन भारतीय संस्कृति में किसी भी विद्या को ठीक ढंग से सीखने के लिए गुरु के प्रति श्रद्धा का होना आवश्यक माना जाता था। यदि विद्या सीखने के लिए गुरु अथवा शिक्षक न हों, तो क्या किया जाए?

बच्चों का आँगन

कौरव-पाण्डवों के शस्त्र-गुरु द्रोणाचार्य उन्हें धनुर्विद्या की शिक्षा दे रहे थे। निषादराज के पुत्र एकलव्य ने द्रोणाचार्य के पास विनम्रतापूर्वक प्रार्थना की कि वे उन्हें धनुर्विद्या की शिक्षा दें। उस समय जाति और वर्ण व्यवस्था के अनुसार शिक्षा दी जाती थी। बालक एकलव्य के प्रार्थना करने पर गुरु द्रोणाचार्य असमंजस में पड़ गए। वे कौरव-पाण्डव राजकुमारों के गुरु थे। उनके साथ सामान्य बालक एकलव्य को शिक्षा देना राजकुमारों को भी अच्छा नहीं लगता और उनकी भी मर्यादा के विरुद्ध था। इसलिए उन्होंने खेदपूर्वक बालक एकलव्य से कहा कि वे उसे शस्त्र-विद्या नहीं दे सकते।

बालक एकलव्य इससे निराश नहीं हुआ। उसने तो मन-ही-मन द्रोणाचार्य जी को अपना गुरु बना लिया था। उसने वन में गुरु द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनाई और अपनी धनुर्विद्या का अभ्यास आरम्भ किया। एकलव्य एकनिष्ठा से विद्या का अभ्यास करने लगा। यदि सचमुच में ऐसी उत्कट निष्ठा हो, तो समस्त विद्याओं के गुरु भगवान स्वयं उसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मार्गदर्शन करते हैं। एकलव्य दिनोंदिन इस अभ्यास में लगा रहा और एक महान धनुर्धर बन गया।

एक दिन कौरव-पाण्डव राजकुमार वन में आखेट करने गए। उनके साथ एक कुत्ता था। वह भटकते हुए वहाँ पहुँच गया, जहाँ एकलव्य धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहा था। एकलव्य का मैला-कुचैला शरीर, सिर पर जटाएँ, मृगचर्म की पोशाक – यह देखकर कुत्ता भौंकने लगा। एकलव्य ने परेशान होकर उसके मुँह पर सात बाण मारे और उसका मुँह बन्द हो गया। किन्तु उसने इस कौशल से बाण मारे कि कुत्ते को कहीं भी चोट नहीं आई।

बाण-भरा मुख लेकर कुत्ता राजकुमारों के पास आया। सभी यह दृश्य देखकर आश्चर्यचकित हो गए। इस प्रकार की शर-सन्धान की कला देखकर उन्होंने सोचा कि अवश्य किसी निपुण धनुर्धारी ने इस कुत्ते का यह हाल किया है। वे उसकी खोज करने लगे। उन्हें वन में एकलव्य मिला।

वहाँ से लौटकर राजकुमारों ने द्रोणाचार्य को यह बात बताई। गुरु द्रोणाचार्य के आने पर एकलव्य ने उन्हें प्रणाम किया। द्रोणाचार्य के द्वारा बाणविद्या के गुरु के बारे में पूछने पर एकलव्य ने कहा कि उसने उनकी ही मूर्ति को गुरु मानकर यह विद्या सीखी है।

द्रोणाचार्य जी पाण्डव राजकुमार अर्जुन को वचन दे चुके थे कि वे उसे विश्व का श्रेष्ठ धनुर्धर बनाएँगे। बालक अर्जुन भी सचमुच में एक महान धनुर्धर था। किन्तु द्रोणाचार्य जी को यह मालूम न था कि अर्जुन के अलावा भी कोई एक उसकी बराबरी का धनुर्धर एकलव्य है।

द्रोणाचार्य जी ने एकलव्य से कहा कि, 'यदि तुम सचमुच मेरे शिष्य हो, तो मुझे गुरुदक्षिणा दो।' एकलव्य भी विनम्रतापूर्वक अपने गुरु को कुछ भी गुरुदक्षिणा देने के लिए तैयार हो गया। द्रोणाचार्य जी ने कहा, 'एकलव्य ! तुम मुझे अपने दाहिने हाथ का अँगूठा दे दो।' बिना अँगूठे के बाण कुशलतापूर्वक चलाया नहीं जा सकता। किन्तु एकलव्य भी गुरुदक्षिणा देने की अपनी प्रतिज्ञा पर अडिग था। उसने प्रसन्नता से दाहिने हाथ का अँगूठा काटकर गुरु को अर्पित कर दिया।

बड़ा आश्चर्य होता है कि जिस विद्या को सीखने के लिए एकलव्य ने इतना कठोर परिश्रम किया, उसे उसने मानो गुरु के चरणों में समर्पित कर दिया । किन्तु इतिहास आज भी एकलव्य की निष्ठा और गुरुभक्ति को नमन करता है ! ○○○

जीवन में संघर्ष और सफलता

स्वामी मुक्तिमयानन्द

रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, चेन्नई

तैत्तिरीय उपनिषद का एक खण्ड भृगु-वल्ली के नाम से विख्यात है। इस अध्याय में हम एक आख्यान पाते हैं। एक छोटा बालक भृगु अपने पिता वरुण से पूछता है – मुझे ब्रह्म के बारे में समझाइये, क्योंकि ब्रह्मज्ञान साक्षात्कार की विषय वस्तु है। अत: पिता उसे कुछ सांकेतिक शब्दों से ब्रह्म के बारे में निर्देश करते हैं – 'उस' (ब्रह्म) की खोज करो। इससे निराश न होकर, वह बालक साधना में लग जाता है। हर बार वह कुछ खोज कर लाता है, किन्तु पिता उसे और अधिक साधना करके ब्रह्म को ठीक से जानने का आदेश देते हैं। वह बालक भी दृढ़ निश्चयी है। वह इस खोज की प्रक्रिया में कहीं भी हताश होकर अपना संघर्ष नहीं छोड़ता और अन्तत: अभीष्ट प्राप्त करके ही रहता है।

ऐसा ही उदाहरण हमें नचिकेता नामक बालक के विश्व प्रसिद्ध व्यक्तित्व में भी देखने को मिलता है। वह यम द्वारा दिये गये उन सारे प्रलोभनों को ठुकरा देता है, जिसे पाने के लिए ९९ प्रतिशत लोग सर्वदा लालायित रहते हैं। यह तो एक बालक था। सम्पन्न-समृद्ध घर में सारी सुख-सुविधाओं में पला-बढ़ा और उनसे परिचित था। इसलिए वह जानता था कि यम उसे क्या प्रदान कर रहे हैं। इसीलिए वह दृढ़ता से उन सबको अस्वीकार कर रहा था। संघर्ष था – शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक। बाधायें थीं, तो प्रलोभन भी थे। अर्थात् लक्ष्य-भ्रष्ट करने के सारे साधन उपस्थित थे। फिर भी अल्पायु बालक इन परिस्थितियों में विजयी होकर वापस आता है और इसका व्यक्तित्व केवल एक गुण से विश्व-वन्दनीय बन जाता है, जो उनके चरित्र में सर्वोपरि था और वह था – आत्मविश्वास।

जगत के समस्त प्रेरक व्यक्तित्वों के जीवन में हम देखते हैं उनका संघर्ष, कठिन चुनौतियाँ, जिनका वे पग-पग पर सामना करते हैं, अनेक प्रलोभन जिन्हें त्याग कर वे अपने मार्ग पर आगे बढ़ते हैं। उनका जीवन स्वामी विवेकानन्द के इस सन्देश का मूर्तिमान रूप होता है – ''आपत्तियाँ पर्वत जैसी भले ही हों, सब कुछ भयावह और अन्धकारपूर्ण भले ही दिखे, पर जान लो, यह सब माया है, डरो मत, यह भाग जाएगी। इसे कुचलो, और यह लुप्त हो जाती है। इसे ठुकराओ, और यह मर जाती है। डरो मत, कितनी बार असफलता मिलेगी, यह न सोचो। चिन्ता न करो। काल अनन्त है। आगे बढ़ो, बारम्बार अपनी आत्मा का प्रतिष्ठापन करो। प्रकाश अवश्य ही आयेगा।''

स्वामीजी की यह वाणी न केवल सफल लोगों की सफलता का कारण बनती है,

बल्कि हम सब संघर्षरत लोगों के लिये पथ-प्रदर्शक का कार्य करती है।

औपनिषदिक व पौराणिक काल से लेकर आज तक अविरत संघर्षों की प्रेरणास्पद गाथायें हमें समाज में देखने को मिलती हैं। मनुष्य के प्रबल आत्मविश्वास और बुलन्द हौसलों ने कैसे कठिन संघर्षों का सामना कर विजय-प्राप्त की, इसके कई दृष्टान्त हमें जीवन में मिलते हैं। न केवल दूसरों के बल्कि हमारे अपने जीवन में भी कठिन चुनौतियों से उबरने के उदाहरण मिलेंगे। प्रत्येक विद्यार्थी, व्यापारी, गृहिणी हर व्यक्ति जीवन में किसी-न-किसी समस्याओं से संघर्ष कर विजयी हुआ है, कठिन चुनौतियों को अपने साहस, धैर्य, अटल विश्वास और बुलंद हौसलों से मात देने में सक्षम हुआ है। पढ़ाई हो या खेलकूद, व्यापार हो या नौकरी, गृहकार्य हो या कला-कारीगरी, हमने कई कठिन चुनौतियों का सामना कर सफलता प्राप्त की है। जब हम उन सफलताओं का विश्लेषण करते हैं, तो पाते हैं कि हमारा धैर्य, समर्पण, लगन, सच्चाई और हमारे आत्मविश्वास ने असम्भव को सम्भव कर दिया। स्वामी विवेकानन्द ने पूर्ण दृढ़ता, आत्मविश्वास, लगन और ध्येय के प्रति पूर्ण समर्पण से कई विपरीत परिस्थितियों में सफलताएँ प्राप्त कीं। वे कहते हैं, ''प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव में कहीं-न-कहीं अद्भुत ईमानदारी और सच्चाई छिपी रहती है और उसी के कारण उसे जीवन में इतनी सफलता मिलती हैं।''

फिर भी हम सब जानते हैं कि संघर्ष के सामने हमारे दो ही विकल्प हैं – fight or flight लड़ाई या पलायन।

पर जीवन को बेहतर, सुदृढ़ और सफल करने की चाह हो, तो संघर्ष को जीवन के संगीत के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। स्वामी विवेकानन्द सावधान करते हैं कि चालाकी से कोई महान कार्य नहीं होता । अक्सर पलायनवादी मानसिकता वाले छल-कपट से कुछ प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु उनकी दशा भी वही होती है, जो दुर्योधन की हुई थी। ये संघर्ष महानता की सीढ़ियों के निर्माता हैं। स्वामीजी कहते हैं कि बिना बाधा के नदी का वेग भी नहीं बढ़ता, फिर मनुष्य का भाग्य कहाँ प्रगति करेगा। स्वामीजी इन बाधा-संघर्षों को सिद्धि के पूर्वलक्षण के रूप में देखते हैं, वे कहते हैं, ''जहाँ बाधा नहीं, वहाँ सिद्धि भी नहीं है।'' संघर्षों को जीवन-पथ का अविभाज्य अंग बताते हुए वे कहते हैं, ''संघर्ष एक बड़ा पाठ है। ध्यान रखो, संघर्ष इस जीवन में बड़ा लाभदायक है। हम संघर्ष से होकर ही अग्रसर होते हैं, यदि स्वर्ग के लिये कोई मार्ग है, तो वह नरक से होकर जाता है। नरक से होकर स्वर्ग – यही सदा का मार्ग है।''

हम जीवन में कई लोगों से प्रेरित होते हैं, कई अनुभवों को प्राप्त करते हैं, कई विचारों से जीवन को सही दिशा देने के लिये प्रयास करते हैं। लेकिन इन सबकी सार्थकता तब है, जब हम साहस, आत्मविश्वास और परिश्रम से जीवन में उन्नत होने का प्रयास करें, कुछ सीखने का प्रयास करें। जीवन में हर संघर्ष, हर अनुभव कुछ सिखाता है।

संघर्षों से सफल होने के अनेक लाभों में से कुछ की चर्चा करते हैं। संघर्षों का जीवन में पहला लाभ है कि हमारा आत्मविश्वास और इच्छाशक्ति प्रबल होती है। जीवन का हर युद्ध आत्मविश्वास और इच्छाशक्ति से ही जीता जाता है। दृढ़ आत्मविश्वास और इच्छाशक्ति सम्पन्न व्यक्ति असफलताओं से हारकर हथियार नहीं रख देता, बल्कि अपनी लगन और साहस से भूलों के विश्लेषण तथा अनुभवों से शिक्षा प्राप्त कर नवीन ऊर्जा से कार्य में लगता है। यह प्रबल आत्मविश्वास ही पहाड़ सदृश कठिनाईयों को पार कराता है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, ''अपने आप पर विश्वास रखो। दृढ़ धारणाएँ महान कार्यों की जननी हैं।'' आज भी ऐसे कई व्यक्ति मिलते हैं, जिन्होंने स्वामीजी की इस आशावाणी से जीवन में लाभ पाया है, सफलता पायी है । स्वामीजी कहते हैं, ''जिसमें आत्मविश्वास नहीं है, वही नास्तिक है। प्राचीन धर्मों में कहा गया है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं रखता वह 'नास्तिक' है, नया धर्म कहता है, जो आत्मविश्वास नहीं रखता वही नास्तिक है।'' स्वामीजी आत्मविश्वास के अभाव की तुलना ईश्वर के प्रति अविश्वास से करते हैं – 'आत्मविश्वासहीनता का अर्थ है ईश्वर में अविश्वास।''

हमें अपने चारों ओर सफल लोगों की सूची में ऐसे हजारों उदाहरण मिलेंगे, जिन्होंने बिना हार माने, बिना आत्मविश्वास खोये अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति से असंभव लगने वाले कार्य को सम्भव कर दिखाया। हम सबने श्री दशरथ माँझी के बारे में पढ़ा होगा, जिन्हें देश 'Mountain man' के नाम से जानता है । उनकी पत्नी की पहाड़ी से फिसलकर आकस्मिक मृत्यु हो गई, किन्तु उन्होंने उस दर्द को उसी पहाड़ी का सीना काट कर राह बनाने के संकल्प में परिवर्तित कर दिया। २२ साल की अथाह मेहनत को दृढ़ इच्छाशक्ति से पुष्ट कर उन्होंने अपनी 'चाह' की 'राह' बना ली।

ऐसी ही प्रेरक व्यक्तित्व की आदर्श मूर्ति हैं कुमारी अरुणिमा सिन्हा, जो एक ट्रेन-दुर्घटना में अपना बाँया पैर कट जाने पर भी अपने आत्मविश्वास और इच्छाशक्ति के सहारे माउण्ट एवरेस्ट पर विजय प्राप्त करनेवाली प्रथम दिव्यांग महिला बनीं। यह सिलसिला आज भी जारी है। पद्मश्री पुरस्कार से सम्मानित कुमारी अरुणिमा सिन्हा के प्रेरणास्रोत हैं स्वामी विवेकानन्द।

संघर्षों से दूसरा एक लाभ यह है कि वह हमारे जीवन को अनुभवी बनाता है। जब भी असफलताएँ आएँ और यदि हम डटे रहें, तो इन अनुभवों से पुष्ट मन हमें सफलता के कागार पर अवश्य ला देगा। हम सबने अपने जीवन में देखा है कि हम असफल तो होते हैं, लेकिन उस अनुभव से सीखते हैं। कितनी गृहिणियाँ प्रथम बार में ही खाना बनाना सीख लेंगी? कितने युवा कह सकेंगे कि एक बार में ही उन्होंने साईकिल चलाना सीख लिया? कितने व्यापारी प्रथम प्रयास में ही व्यापार के सारे गुर सीख जाते हैं? जब जीवन के सामान्य कार्यों में हमें बार-बार प्रयास करना पड़ता है, तो अपने ऊँचे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये क्या हमें प्रयास नहीं करने पड़ेंगे? यह बात समझाते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – ''पहले-पहल सफलता न भी मिले, तो कोई हानि नहीं है, यह असफलता तो बिल्कुल स्वाभाविक है, यह मानव-जीवन का सौन्दर्य है। इन असफलताओं के बिना जीवन क्या होता? यदि जीवन

में इस असफलता को जय करने की चेष्टा न रहती, तो जीवन-धारण करने का कोई प्रयोजन ही न रह जाता। यह असफलता, यह भूल रहने से क्षति क्या है? अतएव यदि बार-बार असफल हो जाओ, तो भी क्या? कोई हानि नहीं, सहस्त्र बार इस आदर्श को हृदय में धारण करो, और यदि सहस्त्र बार भी असफल हो जाओ, तो एक बार फिर प्रयत्न करो।''

अनुभव से सुदृढ़ यही निरन्तर प्रयास हमें जीवन में धैर्य और सकारात्मक सोच विकसित करने का एक और श्रेष्ठतम पाठ पढ़ाता है। तब व्यक्ति दृढ़तापूर्वक हर समस्या का सामना करने को तैयार हो जाता है, वह हर संघर्ष में विजय-प्राप्ति हेतु अविरत आगे बढ़ता जाता है।

कई लोग दुख और हताशा से हारकर अपना संघर्ष छोड़ देते हैं। असफलताओं से उत्पन्न निराशा उन्हें नकारात्मक बना देती है। विशेषकर युवाओं में आजकल धैर्य का अत्यन्त अभाव देखने को मिलता है। कई बार हम कुछ कार्य का चयन कर उसमें अपना पूरा तन-मन लगा देते हैं, किन्तु उसके बाद भी जब सफलता नहीं मिलती, तब हम नकारात्मक सोच के शिकार बन जाते हैं। यदि हम कभी पीछे मुड़कर असफलताओं के कारण का विश्लेषण करें, तो हमारी समस्या का समाधान बहुत कुछ हो सकता है। किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि हम धैर्य न खोयें, नकारात्मक न सोचें। प्रत्येक असफल कार्य के अंदर उसकी सफलता की कुंजी छिपी रहती है। हमें त्रुटियों का विश्लेषण कर उन्हें दूर करने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द का एक परामर्श बहुत ही उपयोगी है। वे कहते हैं – ''अपने जीवन में मैंने जो श्रेष्ठतम पाठ पढ़े हैं, उनमें से एक यह है कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिए, जितना कि उसके साध्य के विषय में। मेरा यह मत है कि सब प्रकार की सफलताओं की कुंजी इसी तत्त्व में है – साधनों की ओर भी उतना ही ध्यान देना आवश्यक है, जितना साध्य की ओर। ...असफलता मिलने पर यदि हम बारीकी से उसकी छानबीन करें, तो निन्यान्बे प्रतिशत यही पायेंगे कि उसका कारण था हमारा साधनों की ओर ध्यान न देना। हमें आवश्यकता है अपने साधनों को पुष्ट करने की और उन्हें पूर्ण बनाने की। यदि हमारे साधन बिल्कुल ठीक हैं, तो साध्य की प्राप्ति होगी ही।''

परन्तु यह विश्लेषण हम तभी कर सकते हैं, जब हम संघर्षों से हार न माने और धैर्यपूर्वक सकारात्मक रूप से कार्य का विश्लेषण करें। यह हमें न केवल अनुभवी बनाएगा, बल्कि इसका लाभ यह भी होगा कि हम हर कार्य के सूक्ष्म गुण-दोषों को समझ पायेंगे। जो अपने प्रत्येक कार्य को सूक्ष्मता से जानता है, वह किसी भी परिस्थितियों का सामना कर सकता है। जो परिश्रमी विद्यार्थी इस बात को जानता है, उसे प्रश्न पत्र की चिन्ता नहीं सताती। हर सफल खिलाड़ी जो इस रहस्य को जानता है, उसे सामने वाली टीम से भय नहीं रहता। हर व्यापारी जो अपने व्यवसाय की बारीकियाँ जानता है, वह प्रत्येक प्रतिकूल वातावरण में अपने व्यापार को क्षति होने से बचा लेता है। अत: जब संघर्षों में धैर्य, साहस, आत्मविश्वास, इच्छाशक्ति व सकारात्मकता का संयोग होता है, तब हर व्यक्ति अनुभव से सम्पन्न बनकर सफलता का स्वाद चखता है।

इस विषय में थॉमस एल्वा एडिसन का अनुभव और कथन आज भी हजारों लोगों के जीवन में प्रेरणा का प्रकाश देता है। बिजली के बल्ब की शोध में वे हजारों बार असफल हुए, किन्तु उन्होंने कभी भी हारकर संघर्ष नहीं छोड़ा। विश्व में विद्युतीकरण के महान वैज्ञानिक एडिसन को जब उनकी असफलताओं के बारे में पूछा गया, तब उनका प्रेरणादायक उत्तर था, ''मैं यह नहीं कहूँगा कि मैं एक हजार बार असफल हुआ, बल्कि मैं यह कहूँगा कि मैंने ऐसे एक हजार मार्गों की खोज की है, जो हमें असफलता की ओर ले जाते हैं।''

अत: हमें जीवन में कभी संघर्षों से या असफलता से हारना नहीं है। असफलतायें हमारे लिये दीवार नहीं सीढ़ी बननी चाहिए। ये सब संघर्ष हमारे शिक्षक हैं। बाधाएँ, असफलता और संघर्ष तो सभी कार्यों में निहित हैं। किन्तु जैसे फल छिलके के बिना नहीं पकता, वैसे ही इनके बिना जीवन भी सुदृढ़ नींव पर स्थापित नहीं होता। अत: अपनी ओजस्वी प्रेरणावाणी में स्वामीजी कहते हैं –

''बाधा जितनी होगी, उतना ही अच्छा है। बाधा पाये बिना क्या कभी नदी का वेग बढ़ता है? जो वस्तु जितनी नई होगी, जितनी अच्छी होगी, वह वस्तु पहले-पहल उतनी ही बाधा पाएगी। बाधा ही तो सिद्धि का पूर्व लक्षण है। जहाँ बाधा नहीं, वहाँ सिद्धि भी नहीं।'' ○○○

आत्मबोध

श्रीशंकराचार्य

(अनुवाद : स्वामी विदेहात्मानन्द)

तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम् ।
मुमुक्षूणामपेक्ष्योऽयमात्मबोधो विधीयते ।।१।।

पदच्छेद – *तपोभि: क्षीण-पापानाम् शान्तानाम् वीतरागिणाम् मुमुक्षूणाम् अपेक्ष्य: अयम् आत्मबोध: विधीयते ।*

अन्वयार्थ – **तपोभिः** तपों के द्वारा **क्षीण-पापानाम्** जिनके पाप क्षीण हो चुके हैं, **शान्तानाम्** जिनके चित्त शान्त हो चुके हैं, (ऐसे) **वीतरागिणाम्** आसक्तियों (राग-द्वेष) से रहित **मुमुक्षूणाम्** मोक्षार्थियों **अपेक्ष्यः** हेतु **अयम्** यह **आत्मबोधः** आत्मबोध (ग्रन्थ) **विधीयते** लिखा जा रहा है ।

श्लोकार्थ – जिन लोगों ने तपों के अभ्यास से अपने पापों को क्षीण कर लिया है, जिनके चित्त शान्त और राग-द्वेष या आसक्तियों से रहित हो गये हैं, ऐसे मोक्ष प्राप्ति की तीव्र इच्छा रखनेवाले साधकों के लिए 'आत्मबोध' नामक इस ग्रन्थ की रचना की जा रही है ।

बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
पाकस्य वह्निवज्ज्ञानं विना मोक्षो न सिध्यति ।।२।

पदच्छेद – *बोध: अन्य-साधनेभ्य: हि साक्षात् मोक्षैक-साधनम् पाकस्य वह्निवत् ज्ञानंविना मोक्ष: न सिध्यति ।*

अन्वयार्थ – **अन्य-साधनेभ्यः** अन्य साधनों की अपेक्षा **बोधः** ज्ञान **हि साक्षात् मोक्षैकसाधनम्** मोक्ष का एक मुख्य साधन है, **पाकस्य** रसोई के लिए **वह्निवत्** अग्नि के समान **ज्ञानंविना** ज्ञान के बिना **मोक्षः** मोक्ष **न सिध्यति** नहीं पकता या सिद्ध नहीं होता ।

श्लोकार्थ – मोक्ष की प्राप्ति में, अन्य समस्त साधनों की अपेक्षा ज्ञान ही सबसे प्रमुख साधन है । जैसे अग्नि के बिना भोजन नहीं पकता, वैसे ही ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं सिद्ध होता ।

अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत् ।
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसंघवत् ।।३।।

पदच्छेद – *अविरोधितया कर्म, न अविद्याम् विनिवर्तयेत्, विद्या-अविद्याम् निहन्ति एव, तेज: तिमिर-संघवत् ।*

अन्वयार्थ – **अविरोधितया** विरोधी नहीं होने के कारण **कर्म** कर्म **अविद्याम्** अज्ञान को **न विनिवर्तयेत्** नष्ट नहीं करता, (अपितु) **विद्या** ज्ञान **एव** ही **अविद्याम्** अज्ञान को **निहन्ति** नष्ट कर देता है, (वैसे ही) **तिमिर-संघवत्** जैसे घोर अन्धकार को **तेजः** प्रकाश (नष्ट कर देता है) ।

श्लोकार्थ – कर्म अज्ञान का विरोधी नहीं है, अत: वह अज्ञान का नाशक नहीं हो सकता । जिस प्रकार प्रकाश ही अन्धकार को नष्ट करने में सक्षम है, उसी प्रकार ज्ञान ही अज्ञान को नष्ट करने में सक्षम है ।

परिच्छिन्न इवाज्ञानात्तन्नाशे सति केवलः ।
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ।।४।।

पदच्छेद – *परिच्छिन्न इव अज्ञानात् तत् नाशे सति केवल: स्वयम् प्रकाशते हि आत्मा मेघ अपाये अंशुमान् इव ।*

अन्वयार्थ – **अज्ञानात्** अज्ञान के कारण ही **आत्मा** आत्मा **परिच्छिन्न** सीमित **इव** के समान (प्रतीत होती है) । **मेघ** बादलों **अपाये** के हट जाने पर **अंशुमान्** सूर्य **इव** के (प्रकाशित हो जाने के) समान, **तत्** उस (अज्ञान) का **नाशे** नाश **सति** हो जाने पर **हि केवलः** एकमेवाद्वितीय (आत्मा) **स्वयम्** स्वयं **प्रकाशते** प्रकट हो जाती है ।

श्लोकार्थ – अज्ञान के कारण ही आत्मा सीमाबद्ध प्रतीत होती है । अज्ञान का नाश होने पर सारे भेदों से रहित असीम आत्मा स्वयं वैसे ही प्रकट हो जाती है, जैसे कि बादलों के छँट जाने पर सूर्य स्वयं प्रकाशित होने लगता है ।

अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्विनिर्मलम् ।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत् ।।५।।

पदच्छेद – *अज्ञान-कलुषम् जीवम् ज्ञान-अभ्यासात् विनिर्मलम् कृत्वा ज्ञानम् स्वयम् नश्येत् जलम् कतकरेणुवत् ।*

अन्वयार्थ – **अज्ञान-कलुषम्** अज्ञान से कलुषित **जीवम्** जीव **ज्ञान-अभ्यासात्** ज्ञान का अभ्यास करने से **ज्ञानम्** ज्ञान (उसे) **विनिर्मलम्** निर्मल **कृत्वा** करके **स्वयम्** स्वयं (भी) **नश्येत्** नष्ट हो जाता है; **जलम्** जल को (स्वच्छ करने के बाद) **कतकरेणुवत्** कतक (निर्मली) के चूर्ण के समान ।

श्लोकार्थ – जैसे कतक या निर्मली का चूर्ण जल की गन्दगी को साफ करके स्वयं भी नीचे बैठ जाता है, वैसे ही ज्ञान का निरन्तर अभ्यास, अज्ञान से कलुषित जीव को शुद्ध करके (ज्ञान) स्वयं भी लुप्त हो जाता है ।

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है, जिसका संकलन स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

८२. प्रतीक में ब्रह्म की उपासना

एक योगी एक नदी के तट पर स्थित वन के एक निर्जन स्थान में रहकर ध्यान का अभ्यास किया करते थे । एक गरीब और अज्ञानी चरवाहा भी उसी जंगल में अपनी गायें चराया करता था । वह हर रोज उन योगी को एकान्त में रहते हुए घण्टों ध्यान, तपस्या तथा अध्ययन करते देखा करता । क्रमश: उस चरवाहे के मन में उन योगी के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि वे करते क्या है! उसने योगी के पास जाकर पूछा, ''महाराज, क्या आप मुझे ईश्वर-प्राप्ति का उपाय सिखा सकते हैं?'' वे योगी एक महान व्यक्ति और बड़े विद्वान् थे । उन्होंने उत्तर दिया, ''तू एक साधारण चरवाहा है, तू भला ईश्वर को कैसे समझेगा? रे मूर्ख, तू इन सब बातों में अपना सिर मत खपा और जाकर अपने गायों की देखभाल कर ।''

वह बेचारा लौट तो गया, परन्तु न जाने कैसे उसके मन में सच्ची व्याकुलता उत्पन्न हो गयी थी । अत: उससे रहा नहीं गया । वह एक बार फिर योगी के पास आकर बोला, ''महाराज, क्या आप मुझे ईश्वर के बारे में कुछ भी नहीं बता सकते?''

उसे यह कहकर पुन: भगा दिया गया, ''अरे मूर्ख, तू ईश्वर को भला क्या समझेगा? जा, घर लौट जा ।'' परन्तु चरवाहे को नींद नहीं आयी; उसकी भूख भी जा चुकी थी । उसे ईश्वर के विषय में कुछ-न-कुछ जानना ही होगा ।

इसलिये वह फिर गया और उसकी जिद देखकर योगी ने उससे अपना पिण्ड छुड़ाने के लिये कहा, ''मैं तुम्हें ईश्वर के बारे में बताऊँगा ।''

चरवाहे ने पूछा, ''महाराज, ईश्वर किस प्रकार के व्यक्ति हैं? उनका कैसा रूप है? वे दिखने में कैसे हैं?''

योगी ने कहा, ''ईश्वर तुम्हारे झुण्ड के सबसे बड़े साँड़ के जैसे हैं । वही ईश्वर है । ईश्वर ही तुम्हारा बड़ा वाला साँड़ बने हुए हैं ।''

चरवाहे को इस पर विश्वास हो गया और वह अपने गायों के पास लौट गया । वह रात-दिन उस साँड़ को ही ईश्वर समझने और उसकी पूजा करने लगा । वह उस साँड़ के लिये सबसे हरी-हरी घास ले आता, उसके पास ही विश्राम करता, उसे प्रकाश दिखाता, उसके पास बैठता और उसके पीछे-पीछे चलता । इसी प्रकार अनेक दिन, महीने तथा कई वर्ष बीत गये । उसका पूरा मन-प्राण उसी (साँड़) में तल्लीन हो गया ।

एक दिन उसने मानो साँड़ के मुख से निकलती हुई एक आवाज सुनी । (उसने सोचा,) ''अरे, यह तो बोल रहा है ।''

''पुत्र, पुत्र ।''

''यह क्या! साँड़ बोल रहा है! नहीं, साँड़ बोल नहीं सकता ।''

फिर आवाज आयी और इस बार माजरा उसकी समझ में आ गया । आवाज उसके अपने ही हृदय से आ रही थी । उसे पता चला कि ईश्वर उसके भीतर ही है । तब आचार्यों के भी परम आचार्य द्वारा कथित यह अद्‌भुत सत्य उसकी समझ में आया, ''मैं सर्वदा ही तुम्हारे साथ हूँ ।'' अब उस गरीब चरवाहे को सारा रहस्य समझ में आ चुका था ।

इसके बाद वह उन योगी के पास गया । जब वह थोड़ी दूर था, तभी योगी ने उसे देख लिया । वे योगी देश के सबसे विद्वान् व्यक्ति थे और अनेक वर्षों से ध्यान, अध्ययन आदि के माध्यम से तपस्या में लगे थे । इधर यह मूर्ख अज्ञानी चरवाहा पूरी तौर से अशिक्षित था और उसने कभी कोई ग्रन्थ नहीं पढ़ा था । परन्तु जब वह आ रहा था, तो योगी ने देखा कि उसका पूरा शरीर मानो रूपान्तरित हो चुका है, उसका चेहरा बदल चुका है और ईश्वरीय ज्योति से उसका मुखमण्डल आलोकित हो रहा है ।

योगी उठ खड़े हुए और बोले, ''यह सब कैसा परिवर्तन है? यह तुम्हें कैसे मिला?''

''महाराज, आपने ही तो मुझे दिया था ।''

''ऐसा कैसे हो सकता है? मैंने तो हँसी में तुमसे वह

शेष भाग पृष्ठ ४९३ पर

सुख-शान्तिदायक व्यक्तित्व

स्वामी सत्यरूपानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

इस जग में सभी जगह सभी मानव एक समान ही रहते हैं। हम प्रेम से लोगों को अपनी ओर आकर्षित करें, ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं। हम जहाँ भी जायेंगे, हमारा प्रभाव हमारे आचरण से पड़ेगा, हमारे स्वभाव से पड़ेगा। अत: हम अपना स्वभाव अच्छा बनाएँ। कई बार प्रथम भेंट में ही सामने वाला व्यक्ति हमारे बारे में अच्छी या बुरी धारणा बना लेता है। हमारे मन में जैसे भाव रहेंगे, वैसे ही भाव सामने वाले आदमी के मन में प्रगट होते हैं। हमारा चेहरा और शरीर ईश्वर का दिया हुआ है। उसे हम बदल नहीं सकते। परन्तु व्यवस्थित रहना, अच्छा बोलना, सबसे प्रेम करना, सबसे मिल-जुल कर रहना, सत्य बोलना, सबकी सेवा करना और सबके प्रति सहानुभूति रखना ये हमारे हाथ में है।

हमें अपने मन में सबके प्रति पूर्ण आदर और स्नेहभाव रखना चाहिए, क्योंकि हमारे मन में दूसरों के प्रति जैसी भावना रहेगी, वैसे ही भाव हमारे चेहरे पर प्रकट होते हैं। यदि हमारे मन में दूसरों के प्रति अच्छे विचार नहीं रहेंगे, तो हमारा सुन्दर चेहरा भी दूसरों को कठोर और घृणास्पद लगेगा। यदि हमारे मन में दूसरों के प्रति सद्विचार और सद्भावना रहेगी, तो हमारे मन में प्रसन्नता रहेगी, यदि हमारे मन में उदात्त विचार रहेंगे, तो कुरूप चेहरे पर भी वे सुन्दर भाव प्रकट होंगे। दूसरे के प्रति अच्छे और सुन्दर भाव मन में रहने से दूसरे लोग भी हमारे प्रति सद्भाव रखते हैं, हमारा स्वागत-सम्मान करते हैं। व्यक्ति जीवन में यशस्वी होता है। उसका व्यक्तित्व पल्लवित और पुष्पित होता है।

हमारे अच्छे विचार कैसे हों

हमारे विचारों में समानता हो। हमारे चिन्तन से सबका मंगल हो। हमारी भावनायें सबके लिए समान रूप से लोक-मंगलकारी हों। हम समान रूप से सद्भावनापूर्वक रचनात्मक कार्यों में अग्रसर होकर समस्त लोगों से प्रेम करें, सबकी सेवा करे और स्वयं को सर्वगुणसम्पन्न बनाकर सबसे सद्व्यवहार करें। हमारे मन, कर्म और वाणी में एकरूपता हो। जगतहितैषी कार्यों में हमारे विचार एक हों। सबकी समृद्धि हेतु हमारी क्रियाओं में हितकर भावना हो। हमारी दृष्टि, हमारा व्यवहार पृथ्वी के समस्त प्राणियों का एक समान निरपेक्ष रूप से मंगल करे। हममें परस्पर स्नेह और सद्भावना हो। हम एक-दूसरे का सदा कल्याण एवं मंगल भावना का विकास करें।

जीभ दो प्रकार के कार्य करती है, एक खाने-स्वाद लेने का और दूसरा बोलने का। हमें इन दोनों चीजों को नियंत्रित रखना चाहिए। संतुलित जीवन बिताना चाहिए। कटु वचन किसी से नहीं बोलना चाहिए। मीठे वचन बोलने से सब अपने होते हैं और कटु बोलने से सब अपने से दूर भागते हैं। निरन्तर जप करने में पाप नहीं रहता। सर्वदा मौन धारण करने वाले का किसी से झगड़ा नहीं होता। भगवान पर निर्भर रहने वाले की कभी पराजय नहीं होती और सर्वदा जाग्रत रहने वाले को कोई भय नहीं होता। सत्य की ही हमेशा जय होती है। हमें इन नीति-वाक्यों का सदा ध्यान रखना चाहिये।

घर-घर में प्रेम का दीया जलाने से अन्त:करण में ज्ञान की ज्योति जलेगी। नित्य मधुर बोलने और किसी के प्रति द्वेष नहीं रखने से परिवार, समाज में प्रेम-सद्भाव बना रहता है। तभी आपको आनन्द मिलेगा और आपको सुख की नींद आयेगी। सब प्रकार के विवाद समाप्त हो जायेंगे। आप पारिवारिक, सामाजिक सभी उत्तरदायित्वों का निष्ठापूर्वक पालन करें। माता-पिता, भाई-बन्धु, स्वजन-सम्बन्धी सबसे प्रेम करें। कभी भी माता-पिता की अवहेलना नहीं करें। माँ ने हमें सुसंस्कार दिये और पिता की छत्रछाया में हम विकसित हुए। इसलिये माता-पिता का हमारे ऊपर बहुत ऋण है। माता-पिता के चरणों में तीर्थ का वास होता है। अत: सच्चाई से उनकी यथासाध्य जीवन-भर सेवा करें।

संसार में रहकर सत्कर्म करें। मन से सदा सावधान रहें। धर्म-पथ पर चलें। ईश्वर की भक्ति करें। साधु-संतों का संग करें। ठाकुर, माँ, स्वामीजी की अनन्त कृपा से मूल्यवान धन – साधु-संतों का सत्संग मिला है। इससे मन निर्मल होता है। भगवान से प्राप्त सुविधाओं से सन्तुष्ट रहें। भगवान के नाम-जप करने से शान्ति मिलती है। इसलिए यदि जीवन में शान्ति एवं आनन्द चाहते हैं, तो हमेशा भगवान के नाम का जप करते रहें। भगवान से कुछ नहीं माँगना, वे ही हमारे सारथि और परमाराध्य हैं। ○○○

भारत की ऋषि परम्परा (१०)

स्वामी सत्यमयानन्द

(भारत वर्ष के प्राचीन ऋषियों का सरल, सरस और सारगर्भित विवरण स्वामी सत्यमयानन्द जी महाराज, सचिव, रामकृष्ण मिशन, कानपुर ने अपनी पुस्तक 'Ancient Sages' में किया है। विवेक ज्योति के पाठकों हेतु इसका हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है। – सं.)

कपिल मुनि

भगवद्गीता में अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, **'सिद्धानां कपिलो मुनिः'**, अर्थात् सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ। भारतीय दर्शन के षड् दर्शनों में से सांख्य दर्शन को सबसे प्राचीन माना जाता है और उसके संस्थापक कपिल मुनि हैं। कपिल मुनि और उनके सांख्य दर्शन ने अन्य भारतीय दर्शनों को तो अत्यधिक प्रभावित किया ही है, साथ ही पुराण और अन्य ग्रन्थ भी उनके उपदेशों द्वारा समलंकृत हुए हैं। भारतवर्ष के बाहर भी उनका प्रभाव था। उन्हें कपिलाचार्य भी कहा जाता है ।

कपिल के पिता सर्ग के आदि में उत्पन्न प्रजापति कर्दम थे। उनकी माता का नाम देवहूति था, वे प्रजापति स्वायम्भुव मनु की पुत्री थीं। पुराणों में वर्णन आता है कि कर्दम ऋषि ने अनेक वर्षों तक तपस्या की। ब्रह्माजी ने उन्हें सृष्टि-विस्तार हेतु सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा दी। स्वायम्भुव मनु अपनी सुयोग्य पुत्री देवहूति के लिए योग्य वर की खोज में थे। वे कर्दम प्रजापति के पास गए। कर्दम ऋषि विवाह के लिए इस शर्त पर सहमत हुए कि नौ सन्तान होने के पश्चात् वे पूर्ववत् तपस्वी का जीवन व्यतीत करने चले जाएँगे। उन्हें नौ कन्याएँ हुईं। तत्पश्चात ऋषि कर्दम संसार त्याग करने को उद्यत हुए। धर्मपरायणा देवहूति ने उनसे प्रार्थना की कि वे पुत्र उत्पन्न होने तक अपना जाना स्थगित करें। कर्दम मुनि राजी हो गए। कुछ समय बाद उन्हें पुत्र हुआ, जिनका नाम कपिल रखा गया । भविष्य में वे एक महान ऋषि बनने वाले थे।

श्रीमद्भागवत में वर्णन आता है कि मानव जाति को ज्ञान प्रदान करने एवं आत्म-साक्षात्कार का मार्ग दिखाने हेतु श्रीहरि ने ही कपिल के रूप में अंशावतार ग्रहण किया। उनके जन्म के पूर्व उनके माता-पिता को इस विषय में अनेक दर्शन हुए थे। तेजस्वी बालक कपिल ज्ञान सहित बड़े होते गए। उनके मन में विश्व-ब्रह्माण्ड (समष्टि) और अणु-ब्रह्माण्ड (व्यष्टि) का ज्ञान प्रकाशित हुआ।

ऋषि कर्दम अब अपना पूर्व-तपस्वी जीवन जीने को स्वतन्त्र थे। किन्तु उन्होंने अपना जाना स्थगित किया, क्योंकि वे जानते थे कि उनका पुत्र कपिल श्रीहरि का अवतार है। अत: वे अपने पुत्र के साथ अतीव आनन्द में रहने लगे और उससे बहुत ज्ञान भी प्राप्त किया।

युवावस्था में ही कपिल मुनि की प्रसिद्धि एक सिद्ध योगी और वेदज्ञ के रूप में हो गई थी। आत्म-ज्ञान में प्रतिष्ठित उनके महान व्यक्तित्व के कारण सर्वत्र लोग उनकी ओर आकर्षित हो जाते थे।

पुराण की एक कथा द्वारा उनकी सिद्धि का परिचय प्राप्त होता है। एकबार अपने चुराये हुए यज्ञीय अश्व की खोज में लगे हुए राजा सगर के अविनयशील पुत्रों ने देखा कि उनका अश्व ध्यानस्थ कपिल मुनि के आसपास घास चर रहा है। सगर-पुत्रों द्वारा आनन्दातिरेक में अधिक शोरगुल करने से कपिल मुनि का ध्यान भंग हुआ। उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और उनकी ओर निन्दा के भाव से देखा। उन्हें डाँटने के लिए उन्होंने कुछ शब्द का उच्चारण किया । उनके मुख से अग्नि उत्पन्न हुई, जिसने सभी राजकुमारों को भस्म कर दिया।

श्रीमद्भागवत में मार्मिक वर्णन आता है कि कपिल मुनि सब कुछ त्याग कर यति परंपरा के अनुसार घर छोड़ने को उद्यत थे। उनकी माँ देवहूति ने दुखी होकर उनसे आग्रह किया कि वे उन्हें मोक्ष-ज्ञान प्रदान करने तक रुके रहें। कपिल मुनि ने सहर्ष स्वीकार किया। उन्होंने अपनी माँ को योग्य अधिकारी समझकर सांख्य योग रूपी सर्वोत्तम मोक्ष-

ज्ञान प्रदान किया।
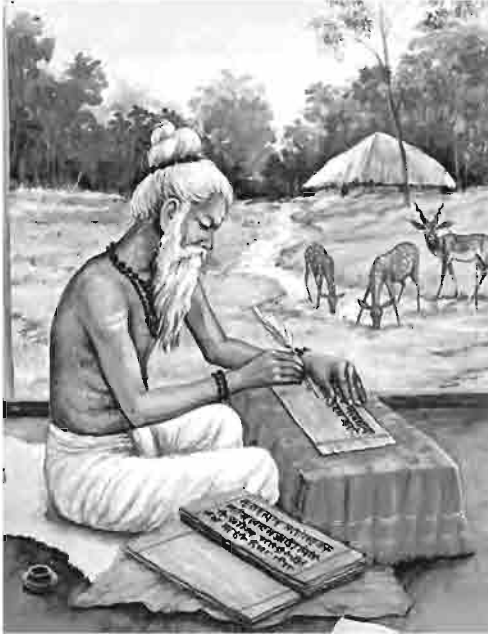
सांख्य-योग के मतानुसार प्रकृति और पुरुष नामक दो सत्ताओं का अस्तित्व होता है। प्रकृति क्रमशः चौबीस तत्त्वों में विस्तरित होती है। मूल-उत्पत्ति की प्रारम्भिक अवधारणा हमें यहाँ प्राप्त होती है। सांख्य का उद्देश्य प्रकृति के विषय में जानना और पुरुष की उससे विलक्षणता का ज्ञान प्रदान करना है। इसका प्रारम्भ मीमांसात्मक न होकर मनोवैज्ञानिक है, किन्तु इसका अद्भुत विश्लेषण प्रकृति के दोनों पक्ष, स्थूल-ब्रह्माण्ड और अणु ब्रह्माण्ड को प्रदर्शित करता है। सांख्य को योगदर्शन का आधार माना जाता है। इसकी सरलता और भव्यता अद्भुत है। इसका उद्देश्य मनुष्य को त्रिताप से मुक्त करना और उसे दृढ़तापूर्वक कैवल्य अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति कराना है।

महर्षि अगस्त्य

महर्षि अगस्त्य प्राचीन काल के एक प्रसिद्ध ऋषि थे। समुद्र को पीने और पर्वतमाला को दबा देने के दैवी पराक्रम के लिए वे विशेष प्रसिद्ध हैं। मानवविज्ञानी और इतिहासकार यह बताते हुए हर्ष का अनुभव करते हैं कि महर्षि अगस्त्य ने शान्त आर्य जाति को गंगा क्षेत्र से दक्षिण तक लाया। इस मत के अलावा, यह भी प्रसिद्ध है कि वे विन्ध्य पर्वतों को पार कर दक्षिण प्रदेश पहुँचे थे।

महर्षि अगस्त्य दिखने में सुन्दर नहीं थे। उनका कद भी थोड़ा छोटा था। तत्कालीन अन्य तपस्वियों के समान उनकी लम्बी दाढ़ी थी और उनके कपड़े पेड़ों की छालों से बने हुए थे। किन्तु उनकी आँखें प्रखर बुद्धि और शक्ति की द्योतक थीं। उन्हें मित्रावारुणि भी कहा जाता था। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का जन्म उनके साथ होने से उन्हें भी इसी नाम से सम्बोधित किया जाता है। एकबार देवता मित्र और वरुण एक ही शरीर में विचर रहे थे। मार्ग में उन्होंने उर्वशी अप्सरा को देखा। उनके संयोग से अगस्त्य और वशिष्ठ की उत्पत्ति हुई।

महर्षि अगस्त्य के गुरु के विषय में जानकारी उपलब्ध नहीं है। किन्तु यह प्रसिद्ध है कि महर्षि अगस्त्य को वेद और अन्य प्राचीन ग्रन्थों का सम्यक ज्ञान था। इसके साथ वे शस्त्र-संचालन में भी निपुण थे। महाभारत में द्रोणाचार्य अपने विषय में कहते हैं कि उनके गुरु अग्निवेश थे और वे महर्षि अगस्त्य के शिष्य थे। महर्षि अगस्त्य एक महान तपस्वी के रूप में प्रसिद्ध थे और कठोर अनुशासित जीवन व्यतीत करते थे।

स्वाभाविक है कि इस प्रकार के गुणों से युक्त ऋषि विवाह के बारे में सोच भी नहीं सकते। एकदिन महर्षि अगस्त्य अरण्य से होकर जा रहे थे। उन्होंने देखा कि उनके पितरगण सिर नीचे और पैर ऊपर कर हवा में तैर रहे हैं। महर्षि अगस्त्य ने उनसे विनम्रतापूर्वक पूछा कि वे इतने पूजनीय और पवित्र हैं, फिर भी उनकी ऐसी दुरवस्था क्यों हुई? उन्होंने कहा, 'पुत्र, हम स्वर्ग में प्रवेश करने के अधिकारी तभी हो सकेंगे, जब तुम विवाह करके सन्तान उत्पन्न करोगे।' इसके बाद ही उनके मन में विवाह का विचार उत्पन्न हुआ। किन्तु एक समस्या थी। महर्षि अगस्त्य छोटे कद और दाढ़ी वाले थे। कोई भी माता-पिता अपनी पुत्री ऐसे तपस्वी को देने के लिए तैयार नहीं थे।

जब महर्षि अगस्त्य को विवाह के लिए पत्नी नहीं प्राप्त हुई, तो अन्ततः उन्होंने अपनी यौगिक सिद्धियों का आश्रय लिया। उन्होंने प्रकृति की सर्व सुन्दर वस्तुओं का सार निकालकर एक अत्यन्त सुन्दर कन्या को उत्पन्न किया। उन्होंने उसका नाम लोपामुद्रा रखा। लोपामुद्रा के पालन-पोषण का भार उन्होंने विदर्भ के राजा को दिया, जो सन्तान रहित थे। कुछ सालों बाद महर्षि अगस्त्य पुनः राजा के पास आए और लोपामुद्रा को पत्नी के रूप में वापस ले गए।

राजभवन के जीवन को अभ्यस्त लोपामुद्रा कुछ आवश्यक वस्तुओं की माँग करने लगी। महर्षि अगस्त्य के लिए उनको पूर्ण करने के अलावा और कोई मार्ग नहीं था। वे धन के लिए कुछ राजाओं के पास गए, पर उन्हें कहीं भी सहायता नहीं मिली। वे एक धनाढ्य असुर इल्वल के घर पहुँचे। अपने भाई वातापी के साथ इस असुर ने अनेक तपस्वियों और ब्राह्मणों की हत्याएँ की थीं। महर्षि अगस्त्य ने सहजता से उनका संहार किया और विपुल सम्पत्ति प्राप्त की।

महर्षि अगस्त्य ने लोपामुद्रा से पूछा कि क्या वे अनेक सन्तान चाहती हैं अथवा एक ही सन्तान, जो भविष्य में महान और पवित्र हो? लोपामुद्रा ने बाद वाला विकल्प ही चुना। उन्हें एक पुत्र हुआ और कहा जाता है कि जन्म के तुरन्त बाद वह वेदपाठ करने लगा। उसका नाम त्रिदस्यु हुआ। उसे इध्मवह भी कहा जाता था। इध्मवह का अर्थ होता है, ईंधन का वहन करने वाला, क्योंकि जब वह छोटा था, वह अपने पिता के यज्ञ में अग्नि के लिए ईंधन

शेष भाग अगले पृष्ठ पर

स्वच्छ भारत : एक यज्ञ

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

एक बार महात्मा गाँधी गोरखपुर से बनारस जा रहे थे। तृतीय श्रेणी की बोगी थी, किसी के लिए रोक नहीं थी। एक सज्जन पास आकर बैठ गये। बैठने के बाद उन्होंने ट्रेन में थूक दिया। गाँधीजी ने अखबार पढ़ते-पढ़ते उसका एक कोना फाड़ा और उस थूक को पोंछकर बाहर फेंक दिया। उस आदमी को बहुत आश्चर्य हुआ। एक बार, दो बार, पाँच बार उसने थूका और गाँधीजी बार-बार उसकी ओर देखें नहीं, उसको पोंछ-पोंछकर फेंकते जाएँ। उसको बड़ा आश्चर्य हुआ – ऐसा कौन आदमी है! जब गाड़ी बनारस सिटी स्टेशन पर पहुँची, तो स्टेशन पर बड़ी भीड़ थी। हजारों आदमी उनके स्वागत के लिए आये थे, 'महात्मा गाँधी की जय', 'भारत माता की जय' के नारे लग रहे थे। जब उसको मालूम हुआ कि यही महात्मा गाँधी हैं, जो हमारी थूक उठा-उठाकर फेंक रहे थे, तो उनके चरणों में अपराध-भाव से गिर पड़ा कि माफ कीजिए। गाँधीजी ने कहा – मैंने कुछ किया नहीं। मैं जहाँ बैठा हूँ, वहाँ स्वच्छता रखना मेरा काम है । मैंने वही किया। इसमें तुम्हारे ऊपर तो कोई उपकार नहीं हुआ। वह बोला - नहीं, मैं तो अपने अपराध से जल मरूँगा। कुछ प्रायश्चित्त मुझे बतायें। तो गाँधीजी ने कहा – अच्छा, आगे से तुम जहाँ भी हो, वहाँ कोई दूसरा यदि गंदा करे, तो बिना कुछ बोले, उसके ऊपर बिना कुछ अहसान जताये, वहाँ तुम साफ करके बैठा करो। इसका नाम यज्ञ है। सूर्य बिना कुछ लिये आपको रोशनी देता है, चन्द्रमा बिना कुछ लिए चाँदनी देता है, हवा बिना कुछ लिए प्राण देती है, बादल बिना कुछ लिए वर्षा करते हैं, पृथ्वी बिना कुछ लिये आपको धारण करती है। जो यह विश्व में हो रहा है, उसका नाम यज्ञ है। यह यज्ञ विश्व का स्वभाव है। सम्पूर्ण प्रकृति यज्ञ कर रही है। आप उसी प्रकृति के बच्चे होकर यज्ञ करना नहीं जानते, गंदा करना जानते हैं। जीवन में यज्ञ आना चाहिए - **दानं दमश्च यज्ञश्च।**

एक बार हमने यात्रा की थी पठानकोट की। अमृतसर होकर काँगड़ा गए थे । हमारे साथ एक पूरा परिवार था। उसमें एक बहुत उत्तम, सौम्य स्वभाव की स्त्री थी । हम अमृतसर की धर्मशाला गये । हम किसी होटल में नहीं जाते थे, गेस्टहाऊस में नहीं जाते थे, धर्मशालाओं में ठहरते थे। यह भले घर की स्त्री थी । तुरन्त उन्होंने अपनी लाँग बाँधी और पानी डाल-डाल कर, झाड़ू लगाकर अपने हाथ से कमरे को साफ किया । यह तो कोई आश्चर्य नहीं है, वहाँ रहना था। लेकिन जब वहाँ से निकलना हुआ, तब उन्होंने अपने हाथ से झाड़ू लगाकर कमरे को धोकर बिल्कुल स्वच्छ कर दिया। मैंने कहा – बाई, क्या कर रही हो? बोली – मेरे बाद जो आवेगा, वह उसमें रहेगा । यदि वह कमरा गंदा होगा, तो उसको बुरा लगेगा । इसलिये हमारा कर्तव्य है कि जब हम इस कमरे को छोड़कर जाते हैं, तो दूसरे के रहने के योग्य बनाकर जायें। एक छोटी-सी बात है, लेकिन कितने सद्भाव की बात है। आप जहाँ बैठते हैं, वहाँ कागज डाल देते हैं, फलों के छिलके वहाँ डाल देते हैं। सारा गंदा कर देते हैं। यज्ञ का अर्थ यह है कि आप स्वयं गन्दा न करें और जो गन्दगी हो, उसको दूर करने का प्रयास करें। ○○○

('दैवी सम्पद योग', से साभार)

पिछले पृष्ठ का शेष भाग

इकट्ठा करता था।

महर्षि अगस्त्य पौराणिक ग्रन्थों में, विशेषकर अत्यधिक शक्ति प्रगटीकरण के प्रसंगों में लोकप्रिय थे। जब कभी मनुष्य और देवता प्राकृतिक आपदाओं अथवा आसुरी शक्तियों से ग्रस्त हो जाते थे, महर्षि अगस्त्य प्राय: उनकी रक्षा करते थे। उनकी शक्ति के विषय में अनेक प्रसिद्ध कथाएँ प्राप्त होती हैं और उनका प्रभाव दीर्घकालीन था। इसके अलावा उनके अन्य दैवी गुणों का भी वर्णन प्राप्त होता है।

पुराण के अलावा महर्षि अगस्त्य का वर्णन ऋग्वेद में एक राजा के ऋत्विक के रूप में प्राप्त होता है। रामायण में वे श्रीराम को शक्ति-सम्पन्न करने के लिए आदित्यहृदयम् मन्त्र में दीक्षित करते हैं, जो वर्तमान में काफी प्रसिद्ध है। कुछ प्राचीन ग्रन्थों की रचना महर्षि अगस्त्य के द्वारा मानी जाती है, विशेषकर वराह पुराण में अगस्त्य-गीता उनकी रचना है। **(क्रमशः)**

रामकृष्ण संघ के संन्यासियों का दिव्य जीवन (१०)

स्वामी भास्करानन्द

(रामकृष्ण संघ के महान संन्यासियों के जीवन की प्रेरणाप्रद प्रसंगों का सरल, सरस और सारगर्भित प्रस्तुति स्वामी भास्करानन्द जी महाराज, मिनिस्टर-इन-चार्ज, वेदान्त सोसायटी, वाशिंगटन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Life in Indian Monasteries' में किया है। 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु इसका हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी चिदात्मचैतन्य ने किया है। – सं.)

मैं जब स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज के साथ बेलूड़ मठ में मुख्य कार्यालय में कार्यरत था, तब वे रामकृष्ण मठ एवं मिशन के महासचिव थे। उनके साथ वहाँ लगभग पन्द्रह संन्यासी कार्य करते थे। परवर्तीकाल में स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज रामकृष्ण संघ के ११वें संघाध्यक्ष (President) हुए।

स्वामी गम्भीरानन्द

महाराज की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, जिससे वे शीघ्रता से कार्य करते थे। प्रतिदिन उनके पास लगभग पचास पत्र आते थे। महाराज स्वयं पत्रों को छाँटकर उन्हें विभिन्न विभागों के संन्यासियों के पास भेज देते। वे प्रतिदिन स्वयं एक-दो घण्टे पत्रोत्तर के प्रारूप तैयार कर शुद्ध टंकण हेतु मुझे देते। उन्हें लेकर मैं टाइप करने वाले महाराज के पास जाता। बाद में टंकित पत्रों को उनसे हस्ताक्षर कराकर डाक द्वारा भेज दिया जाता।

महाराज विभिन्न विभागों के पत्रों के वितरण के बाद (वे इस कार्य में किसी भी कर्मचारी से सहायता नहीं लेते थे) कार्यालय भवन के बाहर बेंच पर कुछ समय के लिए अपनी साधारण वेशभूषा में ही बैठे रहते। उस समय यदि कोई नया व्यक्ति उन्हें देख ले, तो वह आश्चर्यचकित हो जाता कि ये ही विश्वव्यापी रामकृष्ण संघ के महासचिव हैं। लगभग आधा घण्टा वहाँ बैठने के बाद वे अपने कार्यालय में चले जाते।

स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज ने हमें सिखाया था कि भक्तों के द्वारा प्रदत्त किसी भी वस्तु का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। इसलिये कार्यालय में लेखन आदि सामग्री के उपयोग में हम अत्यधिक मितव्ययिता का पालन करते थे। महाराजजी अपने डाक-पत्र खोलते थे और लिफाफे के खाली अंश को ड्राफ्टिंग के लिये उपयोग करते थे ! अन्ततः एक प्रिन्टिंग प्रेस ने अपने प्रेस के अव्यवहृत कागज को हमें देना शुरु किया जिसका उपयोग हम ड्राफ्टिंग के लिए किया करते थे।

महाराज कार्यालय में फुरसत के समय पुस्तकें भी लिखा करते थे। उनके द्वारा लिखित बहुत-सी पुस्तकों में एक 'युगनायक विवेकानन्द' नामक दो खण्डों में थी, जिसे उद्बोधन कार्यालय, कोलकाता द्वारा प्रकाशित किया गया था। तब स्वामी विश्वाश्रयानन्द जी महाराज (१९१६-१९७८) उस आश्रम के अध्यक्ष थे।

वे एक दिन नयी प्रकाशित 'युगनायक विवेकानन्द' की प्रतियों के साथ मिशन के मुख्य कार्यालय में आये और गम्भीरानन्द जी महाराज को प्रणाम किया। महाराज उनसे सस्नेह मिले। विश्वाश्रयानन्द महाराज ने भावुक होकर कहा, "महाराज, आप इन पुस्तकों को लिखकर हमारे संघ की बहुत सेवा कर रहे हैं।"

जब तक स्वामी विश्वाश्रयानन्द महाराज ने ये बातें नहीं कही थीं, तब तक महाराज प्रसन्न थे। लेकिन जैसे ही उन्होंने ये बातें सुनी उनके मुख का भाव बदल गया। उन्होंने ऊँची आवाज में कहा, "तुम कह रहे हो कि मैं संघ की बहुत सेवा कर रहा हूँ ! तुम कैसे जानते हो कि मैं ये पुस्तकें अपने अहंकार को बढ़ाने के लिए नहीं लिख रहा हूँ?"

स्वामी विश्वाश्रयानन्द महाराज ने हाथ जोड़कर महाराज से कहा, "महाराज, मुझे क्षमा कर दीजिए, मुझसे भूल हो गयी।" यह सुनते ही तुरन्त स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज पुनः प्रसन्न हो गये।

मैं उस समय वहीं उपस्थित था और इस पूरी घटना का साक्षी था। स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज के व्यवहार से मैं आश्वस्त हुआ कि वे उस मिथ्या अहंकार से पूर्ण रूप से मुक्त हैं, जिससे प्रेरित होकर अनेक लेखक पुस्तकें लिखतें हैं। स्वामी विश्वाश्रयानन्द जी महाराज भी इस बात से सहमत थे।

इससे सम्बन्धित मैं एक संन्यासी की एक दुखद घटना का उल्लेख करता हूँ। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि साधक के लिए नाम-यश की लालसा आध्यात्मिक जीवन की सबसे अन्तिम बाधा है। सम्भव है कि कोई साधक

आध्यात्मिक जीवन में अधिक प्रगति करके भी नाम-यश की लालसा में फँस जाय। साधारण लोग नाम-यश की अपेक्षा इन्द्रिय सुख और धन-सम्पत्ति के लिए ही अधिक लालायित रहते हैं। साधक इन्द्रिय सुख और धन-सम्पत्ति की लालसा से मुक्त होने पर भी नाम-यश की आकांक्षा कर सकता है।

मैं एक संन्यासी का उल्लेख कर रहा हूँ, जिनका जीवन बड़ा पवित्र था। वे बहुत शिक्षित थे। उन्हें एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय से एक से अधिक स्नात्कोत्तर की उपाधि प्राप्त थी। उन्होंने धार्मिक विषयों पर अनेक विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें लिखी थीं, जो हमारे रामकृष्ण संघ से प्रकाशित हुई थीं। वे संन्यासी प्रामाणिक, दयालु, सत्यनिष्ठ तथा तपस्वी थे। हम सभी उनका बहुत सम्मान करते थे।

जब वे लगभग सत्तर वर्ष के थे, तो अमेरिका के एक प्रकाशक ने उनकी एक पुस्तक को अमेरिका में प्रकाशित करने में रुचि दिखायी।

हमारे संघ को उस पुस्तक का प्रकाशनाधिकार था। उसकी अनुमति लेने के लिए वे महासचिव महाराज के पास गये। उन्होंने जब महासचिव महाराज से इसकी अनुमति माँगी, तो उन्होंने कहा इसकी अनुमति वे इसलिये नहीं दे सकते, क्योंकि उक्त पुस्तक की प्रकाशनाधिकार की अवधि समाप्त होने के बाद ही अन्य प्रकाशक उसको प्रकाशित कर सकता है, अन्यथा नहीं। लेकिन लेखक महाराज हठी थे। अमेरिका में पुस्तक प्रकाशित करने की अनुमति के लिए वे बारम्बार महासचिव महाराज को परेशान करने लगे।

अन्ततः महासचिव महाराज ने उनसे कहा, ''तुम्हारी पुस्तक हमारे संघ की सम्पत्ति है। यदि तुम चाहते हो कि कोई अन्य प्रकाशक तुम्हारी पुस्तक को प्रकाशित करे, तो उसके लिए एक ही रास्ता है, वह यह कि तुम संघ से बाहर रहकर पुस्तकें लिखो।'' महासचिव महाराज की इन बातों से उन्हें बहुत दुख हुआ और वे चुपचाप संघ छोड़कर चले गये।

संघ छोड़ने के बाद सबसे पहले वे कोलकता में अपने भतीजे के घर गये। लेकिन अधिकांश जीवन मठ में बिताने के कारण उन्हें पारिवारिक वातावरण में काफी कठिनाई होने लगी। अतः वे काशी चले गये और परिव्राजक संन्यासियों के स्थान में रहने लगे। महाराज एक छोटे से साधारण कमरे में रहते और भिक्षा द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते थे।

वाराणसी में हमारे दो आश्रम हैं। उनमें से एक में बहुत बड़ा धर्मार्थ चिकित्सालय संचालित होता है। इन दोनों आश्रमों के संन्यासियों ने महाराज को संघ में वापस लाने हेतु बहुत प्रयास किये, लेकिन महाराज ने इसे अस्वीकार कर दिया। फिर भी हमारे आश्रम के संन्यासीवृन्द उनकी खोज-खबर रखते थे। वाराणसी में कुछ महीनें रहने के बाद वे गम्भीर रूप से बीमार हो गये। वे चलने में असमर्थ होकर पूर्ण रूप से शय्याग्रस्त हो गये। हमारे आश्रम के संन्यासी उन्हें तख्ती (Stretcher) पर रखकर हमारे अस्पताल में ले आये। महाराज ने उन संन्यासियों से पूछा, ''तुमलोग क्यों मुझे यहाँ लाए हो? मैं तो संघ छोड़ चुका हूँ।''

संन्यासियों ने उत्तर दिया, ''महाराज, आपने भले ही संघ छोड़ दिया हो, लेकिन संघ ने आपको नहीं छोड़ा है !''

महाराज को विभिन्न प्रकार की चिकित्सायें कराई गयीं, किन्तु वे स्वस्थ नहीं हुए। अस्पताल में एक-दो महीने रहने के बाद उन्होंने शरीर त्याग दिया। हमारे संन्यासियों ने ही उनका अन्तिम-संस्कार किया।

इस दुखद घटना से यह स्पष्ट है कि कैसे एक आध्यात्मिक साधक नाम-यश एवं लोकवासना के जाल में फँस जाता है। स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज इस प्रलोभन से मुक्त थे।

स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज कनिष्ठ संन्यासियों को . कुछ बातें अच्छे ढंग से सिखाते थे। एक बार उन्होंने देखा कि मैं अपने कमरे को बिना ताला लगाए ही चला जाता हूँ । चूँकि हमलोग सार्वजनिक रास्ते के निकट में कार्यालय के ऊपरी मंजिल में रहते थे, इसलिये कमरे में ताला लगाना अत्यावश्यक था । मेरे कमरे में कुछ धार्मिक पुस्तकें, तीन जोड़े गेरुआ वस्त्र एवं एक छोटा पुराना जर्जरित टेबल-पंखा था। पंखे की उम्र मेरी उम्र से भी अधिक थी ! आश्चर्य है कि पंखा अब भी चलता था !

स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज ने मुझसे पूछा, ''तुम नियमित रूप से अपना कमरा क्यों नहीं बन्द करते?''

मैंने उत्तर दिया, ''मेरे कमरे में कुछ भी मूल्यवान वस्तुएँ नहीं हैं। इसलिये मैं कमरा बन्द नहीं करता।''

महाराज ने कहा, ''कमरे में ताला लगाना बेहतर होगा, नहीं तो अभावग्रस्त लोगों को चुराने का प्रलोभन देने में तुम उत्तरदायी होगे।''

शेष भाग पृष्ठ ४९० पर

स्वामी विवेकानन्द की भारतीय शिक्षा पद्धति

स्वामी अलोकानन्द
पूर्व प्राचार्य, वेद विद्यालय, बेलूड़ मठ

(गतांक से आगे)

सत्यकाम की कथा

प्राचीन भारतीय सभ्यता की विशेष मर्यादा थी। '**सत्यमेव जयते नानृतम्**' – सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं – उपनिषद दृढ़ स्वर में यह घोषणा करते हैं। शिक्षा क्षेत्र में जाति, धर्म, वर्ण आदि सबकी पहचान तत्कालीन समाज में नितान्त आवश्यक थी। उनका किसी भी रूप में उल्लंघन नहीं होता था। इसी सत्य पर प्रतिष्ठित रहकर गोत्र-यज्ञोपवीतरहित जबालानन्दन किस प्रकार महर्षि सत्यकाम हो गए, उसे ही अब हम देखेंगे।

जबाला के पुत्र सत्यकाम एक दिन शिक्षा प्राप्त करने के लिए महर्षि गौतम के आश्रम में उपस्थित हुए। ऋषि गौतम उस समय शिष्यों को शास्त्र-पाठ पढ़ा रहे थे। बालक सत्यकाम श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर महर्षि के पास खड़ा हो गया। गौतम ने बालक की श्रद्धा, विनम्रता आदि छात्रोचित गुणों से संतुष्ट होकर उसके आगमन का कारण पूछा। बालक द्वारा विद्यार्जन की इच्छा व्यक्त करने पर महर्षि ने पूछा, ''वत्स, तुम्हारा परिचय क्या है? तुम्हारे पिता कौन हैं? तुम्हारा गोत्र क्या है?'' बालक को इन सब प्रश्नों का उत्तर ज्ञात नहीं था। माँ से पूछकर अगले दिन आने की बात कहकर उसने गुरु से विदा ली।

घर में माँ जबाला से इन प्रश्नों को पूछने पर जबाला ने कहा, ''पुत्र ! यौवन काल में मैंने अनेक लोगों की सेवा की थी। उसी समय तुम्हारा जन्म हुआ, इसलिये तुम्हारे पिता कौन हैं, तुम्हारा गोत्र क्या है, यह सब मैं नहीं जानती। मैं इतना ही जानती हूँ कि मैं जबाला हूँ और तुम सत्यकाम हो। अगले दिन महर्षि गौतम के पास जाकर बालक ने सभी बातें उनसे बता दी। दूसरों द्वारा इस बात को सुनकर उपहास करने पर भी महर्षि ने उससे कहा, ''वत्स ! तुमने सत्य कहा है, धर्मपथ से विचलित मत होओ। तुमने गलत उपाय से अवसर पाने की चेष्टा नहीं की है। यह सत्यवादिता ही ब्राह्मण का लक्षण है। तुम सच्चे ब्राह्मण हो, तुम ही विद्यार्जन के अधिकारी हो। हे सौम्य ! समिधा एकत्र करो ! मैं तुम्हारा उपनयन करूँगा।''

इसके बाद शिष्य सत्यकाम को चार सौ दुर्बल गायों को सौंपकर महर्षि ने उनकी देखभाल करने को कहा। 'हजार गायें हो जाने पर लौटूँगा', ऐसा संकल्प लेकर सत्यकाम गायों को लेकर वन की ओर चल पड़ा।

बहुत दिनों बाद जब गायों की संख्या हजार हो गई, तब साँड (बैल) ने उसे सम्बोधित करके कहा, 'हे सत्यकाम! हमलोग हजार हो गए। अब हमें अपने आचार्य के घर ले चलो। तुम्हारी सेवा से हम सब संतुष्ट हैं, इसलिए मैं तुम्हें ब्रह्म के एक पाद (अंश) के विषय में उपदेश देना चाहता हूँ। पूर्व दिशा एक अंश है। पश्चिम दिशा एक अंश है, उत्तर दिशा एक अंश है, दक्षिण दिशा एक अंश है। सौम्य ! यही ब्रह्म का प्रकाशवान नामक चार कलाओं में विशिष्ट एक पाद है। जो कोई ब्रह्म के इस चार कलाओं से विशिष्ट एक पाद को जानकर, उसे प्रकाशवान मानकर उपासना करता है, वह इस लोक में सुप्रसिद्ध होता है और परलोक में प्रकाशवान लोकों में गमन करता है। अग्नि तुम्हें एक और पाद के बारे में बताएँगे।'

अगले दिन सत्यकाम गायों को लेकर गुरुकुल की ओर चल दिए। चलते-चलते संध्या हो गई। वे एक स्थान पर गायों को एकत्रित कर वहाँ अग्नि प्रज्वलित कर अग्नि और गायों के समीप पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठ गए। तब अग्नि ने उन्हें सम्बोधित करके कहा, ''हे सत्यकाम !'' सत्यकाम ने विनम्रता से कहा, 'हे भगवन् !'

अग्नि – 'हे सौम्य ! मैं तुम्हें ब्रह्म का एक पाद बताऊँगा।'

सत्यकाम – हे श्रद्धेय ! आप मुझे बताइए।

अग्नि – पृथ्वी एक अंश, अन्तरिक्ष एक अंश, द्युलोक एक अंश, समुद्र एक अंश है। हे सौम्य ! यही ब्रह्म का अनन्तवान नामक चार कलाओं में विशिष्ट एक पाद है। जो कोई इसे ऐसा ज्ञात कर, अनन्तवान समझकर उपासना करता है, वह इस लोक में अनन्तवान होता है। परलोक में अनन्त, अक्षय लोकों पर विजय प्राप्त करता है।

अग्नि ने आगे कहा, ''हंस तुम्हें ब्रह्म का एक पाद बताएगा।''

अगले दिन फिर दिनभर चलते-चलते संध्या होने पर

सत्यकाम अग्नि प्रज्वलित करके संध्योपासना करने बैठे। अचानक कहीं से एक हंस उड़कर आया और बोला, 'सत्यकाम ! मैं तुम्हें ब्रह्म का एक पाद बता रहा हूँ। अग्नि एक अंश, सूर्य एक अंश, चन्द्र एक अंश, विद्युत एक अंश है । यह ब्रह्म का ज्योतिष्मान नामक चार कलाओं में विशिष्ट एक पाद है। इसकी उपासना करने पर उपासक इस लोक में दीप्तिमान होता है और परलोक में चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतिष्मान लोकों को प्राप्त करता है। देखो, मदण्ड तुम्हें एक और पाद बताएँगे।

अगले दिन प्रात:काल वे चल पड़े। सांयकाल जब उपासना के लिए बैठे, तो एक प्रकार का जलचक्र पक्षी मदण्ड उड़कर आया और बोला, 'हे सत्यकाम ! मैं तुम्हें ब्रह्म का एक पाद बताता हूँ। प्राण एक अंश, नेत्र एक अंश, कर्ण एक अंश, मन एक अंश है । यह आयतवान नामक ब्रह्म का चार कलाओं में विशिष्ट एक पाद है। जो कोई इसकी आयतवान रूप से उपासना करता है, वह इस लोक में उपयुक्त आाश्रय प्राप्त करता है और परलोक में अनेक आयतन युक्त लोकों को प्राप्त करता है।

इसके पश्चात् सत्यकाम गुरुकुल में पहुँचे। गुरु ने उन्हें देखकर कहा, 'हे सौम्य ! तुम्हारा मुखमण्डल इतना देदीप्यमान है ! तुम्हें निश्चिय ही ज्ञान प्राप्त हो गया है। तुम्हें किसने उपेदश दिया है?

सत्यकाम ने विनम्रता से सभी बातें बताकर कहा, "हे गुरुदेव ! आप ही मुझे उपदेश दीजिए, क्योंकि आपके समान आचार्यों के समीप मैंने यह सुना है कि गुरुमुख से सुनी हुई विद्या ही मंगलकारी होती है।"

प्रसन्न होकर गुरु ने उन्हें उस विद्या का उपदेश दिया।

इस कथा से क्या शिक्षा मिलती है? प्राचीन काल में शिक्षा स्वयं ग्रहण करनी पड़ती थी। गुरु प्रारम्भिक शिक्षा देकर शिष्य की आन्तरिक जिज्ञासा को जाग्रत कर देते थे। इसी प्रेरणा से सत्यकाम ने प्रकृति की गोद से सभी विद्याएँ अर्जित कीं। वृषभ, हंस, पक्षी ये सब बात कर रहे हैं, हम लोग इस कथा में प्राप्त करते हैं। वस्तुत: सत्यकाम ने अपने साधना-बल से एक दिव्य दृष्टि अर्जित कर ली थी। उसी दृष्टि को प्रक्षेपित करके प्रकृति की प्रत्येक वस्तु से वे विद्या अर्जित करते हैं। अन्त में गुरु के पास उसे निवेदित करने पर गुरु उसे वास्तविक कहकर स्वीकृति देते हैं। छात्र पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित न रहकर संसार में उसका प्रयोग करके नवीन तथ्यों को प्राप्त करेगा और शिक्षक उसे संपुष्ट (Confirm) करेंगे – यही शिक्षा की पद्धति है।

विद्याप्राप्ति हेतु अहंकार का त्याग आवश्यक है

विद्यार्जन करने के लिए अंहकार को छोड़ना पड़ता है। इसीलिये शिष्य के लक्षणों में हम 'विनम्रता' शब्द पाते हैं। नीतिशास्त्र में कहा गया है – '**विद्या ददाति विनयम्**' – विद्या विनय प्रदान करती है। वास्तव में विद्यार्जन करने के लिये गुरु के समीप विनम्र होकर जाना चाहिए और विद्यार्जन के पश्चात् भी वह निरहंकार रहना चाहिए। यह विद्या की सार्थकता है।

एक विदेशी बोधकथा है। एक बार कोई धर्म प्रचारक ईसा की महान वाणी का प्रचार कर रहे थे। उस देश के सभी लोग उस प्रचार से आकृष्ट थे और प्रचारक के प्रति बहुत श्रद्धावान थे। यह सब देख उस देश का सम्राट क्षुब्ध होकर एक दिन प्रचारक के समीप आया। प्रचारक ने उनका सादर स्वागत किया। सम्राट ने कहा, "आपने तो बड़ा महान उपदेश देकर लोगों के मन को परिर्वतन कर दिया है। मुझे भी वह उपदेश दीजिए तो।' प्रचारक ने कहा, "दूँगा, पहले एक कप चाय पी लीजिए।" वे सम्राट के प्याले में चाय डालते हैं। प्याला भर जाने के बाद भी वे चाय डालते जाते हैं। चाय प्याले से बाहर गिरकर बहने लगती है, फिर भी वे नहीं रुकते हैं। तब सम्राट ने क्रुद्ध होकर कहा, "क्या कर रहे हैं? आपको इतना भी ज्ञान नहीं है कि एक भरे हुए प्याले में चाय डालते रहने से चाय बाहर गिरती रहेगी। क्या इसी बुद्धि से आप लोगों को उपदेश देते हैं?"

प्रचारक ने रुककर हँसते-हँसते कहा, "मैं भी यही बात कहता हूँ। हे सम्राट ! आपका हृदय तो अहंकार से भरा है, वहाँ और स्थान ही नहीं है, मेरे द्वारा प्रदत्त उपदेश आप कहाँ रखेंगे? इसलिये पहले सम्पूर्ण अंहकार को समाप्त कर हृदय को स्वच्छ कीजिए।"

इस कहानी को सुनकर हम आश्चर्यचकित हो जाते हैं। किन्तु जब हम थोड़ा पीछे मुड़कर देखते हैं, तो पाते हैं कि भारत के ऋषिकुल ने विद्या-दान के पूर्व निरहंकार होने का उपदेश दिया है।

नारद-सनत्कुमार कथा

नारद बहुत-सी विद्याओं के अधिकारी हैं। संसार की

समस्त विद्याओं को उन्होंने ग्रहण किया है, किन्तु मन में शान्ति नहीं है। नारद वेद-वाणी कहते हैं, '**मंत्रविदेवास्मि, नात्मवित्**' – ''मैं मन्त्रविद् हूँ, किन्तु आत्मविद् नहीं हूँ।'' नारद सनत्कुमार के समीप जाकर विनम्रता से कहते हैं, 'मैंने सुना है कि आत्मविद् संसार के शोक का अतिक्रमण कर सकता है। अत: मैं शोकग्रस्त हूँ, मुझे शोक से पार ले जाने की कृपा कीजिए।'

सनत्कुमार बोले, 'देखो, तुमने सब कुछ नाममात्र का सीखा है।' इसके द्वारा नाम की गति जितनी दूर होती है, उतनी दूर तक जाना सम्भव है। किन्तु इससे भी परे अन्तर्निहित इच्छाशक्ति को जाग्रत करके ही इस नाम की गहराई में प्रवेश किया जा सकता है। इसके बाद सनत्कुमार ने नारद का आग्रह देखकर क्रमश: उस नाममात्र की शिक्षा के अन्त में परम तत्त्व भूमा का उपदेश दिया। जीव स्वरूपत: ब्रह्म है। भूमा ही उसका स्वरूप है। अल्प में शान्ति नहीं है। जो अल्प है, वह मर्त्य है। इसीलिये भूमा ही लक्ष्य है।

सम्प्रति हम जो शिक्षा अर्जित करते हैं, वह केवल नाम, शब्द, भाषा और तत्त्व सिद्धान्त मात्र है। हमें उसका प्रायोगिक या व्यावहारिक ज्ञान नहीं है। इसलिए वह विद्या हमारे वास्तविक जीवन में समस्या का समाधान करने में असमर्थ है। इसके कारण हम केवल नौकरी पाने की आशा में व्यर्थ ही कार्यालयों के द्वार-द्वार पर भटकते रहते हैं। अन्त में निराश जीवन में मस्तिष्क-विकृति और आत्महत्या आदि के विचार आते हैं।

इसीलिए स्वामीजी ने कहा है, ''शिक्षा किसे कहते हैं? पुस्तक पढ़ना? – नहीं। अनेक प्रकार का ज्ञानार्जन करना? वह भी नहीं। जिस शिक्षा से इच्छाशक्ति के वेग और स्फूर्ति को अपने अधीन कर फलदायी बनाया जा सके, वही शिक्षा है।' .... 'जो शिक्षा स्वयं को अपने पैरों पर खड़ा होने में सहायता नहीं करती, वह शिक्षा शिक्षा ही नहीं है। वह अशिक्षा, कुशिक्षा है।''

यही स्वनिर्भरशील शिक्षा ही हमारी आज की बेरोजगारी आदि समस्याओं का समाधान करने में सक्षम होगी।

प्रजापति इन्द्र-विरोचन की कथा

प्राचीन भारत में वास्तविक शिक्षा के लिए बह्मचर्य की बात कही गई है। ब्रह्मचर्याश्रम में शिक्षा प्राप्त करना होता है। अर्थात् इस छात्र-जीवन में ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन आवश्यक है। इससे शिक्षार्थी का मानसिक संयम, एकाग्रता शक्ति बढ़ती है। इसी मन:संयम से विवेकबोध जाग्रत होता है। यदि विवेकबोध रहे तो वही शिक्षार्थी शिक्षणीय विषय का तात्पर्य समझ सकता है। इसी में विद्या की सार्थकता है।

इसे एक आख्यायिका के द्वारा बताया गया है। एक बार प्रजापति ने कहा – **य आत्मापहतपाप्मा... कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति**' – 'जो आत्मा निष्पाप, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, उसी का अनुसन्धान करना चाहिये, उसे ही विशेष रूप से जानना चाहिये। जो इस आत्मा का अनुभव करते हैं, वे सभी लोकों और अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करते हैं।' (छा.उ. ८.७.१)

लोकपरम्परा से देवता और असुर दोनों ने ही इस कथा को सुनकर कहा, ''अच्छी बात है, हम इस आत्मा का अन्वेषण करते हैं।'' इसके बाद देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन अलग-अलग ढंग से उसी तत्त्व को जानने की इच्छा से शिक्षार्थी के नियमानुसार समिधा लेकर प्रजापति के पास पहुँचे। वहाँ वे लोग बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन करके रहे। अन्त में प्रजापति ने उनका उद्देश्य जानना चाहा। उन लोगों ने कहा, ''जिस आत्मा के अनुभव से सभी लोकों और सभी काम्यवस्तुओं को प्राप्त किया जाता है, आप बताइए, हम उसी आत्मतत्त्व को जानना चाहते हैं।''

प्रजापति ने उन लोगों को एक जलपूर्ण पात्र के पास ले जाकर कहा, 'क्या देख रहे हो?' उन लोगों ने कहा – ''**भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य:, आ नखेभ्य: प्रतिरूपमिति**।'' – 'हे भगवन् ! हम लोग सम्पूर्णत: आत्मा का दर्शन कर रहे हैं, अपने रोम और नख आभूषण आदि के साथ हमें अपनी ही प्रतिमूर्ति दिखती हैं।' प्रजापति ने कहा, यही अमृत, अभय आत्मा है, यही ब्रह्म है। (छा.उ. ८.८.१)

इस वाक्य का तात्पर्य नहीं समझने के कारण वे लोग संतुष्ट होकर चले गए। असुरराज विरोचन स्वभावत: स्थूलबुद्धि का था। वह असुर समाज में जाकर, 'यह शरीर ही आत्मा है, इसका ही पालन करणीय है' – इस बात का प्रचार करने लगा। किन्तु देवराज इन्द्र विवेकी थे। इसलिए

मार्ग में चलते-चलते उन्होंने विचार किया। 'आत्मा तो अजर, अमर, अक्षर, अव्यय है। किन्तु यह जो प्रतिमूर्ति है यह तो परिवर्तनशील है। आभूषणयुक्त होने पर एक तरह का तथा आभूषण रहित होने पर दूसरी तरह का हो जाता है। इसलिए वह कैसे अमृत, अभय आत्मा होगा।'

इसी प्रकार चिन्तन-मनन करते हुए देवराज ने प्रजापति के पास वापस जाकर अपना मनोभाव बताया। प्रजापति उन्हें इस आत्मतत्त्व का अनुभव कराने के लिये सुदीर्घ काल तक ब्रह्मचर्य-पालन कराते रहे। वस्तुत: इसी सुदीर्घकालीन एकाग्र मन और श्रद्धाभाव से उस आत्मतत्त्व की खोज में इन्द्र तल्लीन हो गए। अन्त में तत्त्वज्ञान प्राप्त कर वे कृतार्थ हुए। ○○○

पृष्ठ ४८६ का शेष भाग

महाराज की इस सलाह के बाद मैं कमरे में ताला लगाने लगा । लेकिन भूल से एक दिन मैं दरवाजा को बिना ताला लगाये ही अन्यत्र चला गया। जब वापस आया, तो देखा मेरा दरवाजा बन्द है। मैंने एक कर्मचारी से पूछा, ''मेरा दरवाजा किसने बन्द किया?''

उसने कहा, ''स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज ने बन्द किया है ।''

मैं बहुत ही लज्जित हुआ और कर्मचारी से पूछा, ''चाबी कहाँ है?''

उसने कहा, ''स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज के पास है?''

मैं महाराजजी के कमरे में गया। वे आँखें बन्द करके एक पुरानी आरामकुर्सी पर बैठे हुए थे। जब वे चुपचाप बैठना एवं चिन्तन करना चाहते थे, तो प्राय: इस प्रकार बैठे रहते थे । उन्होंने जैसे ही मेरी पदध्वनि सुनी, आँखें बन्द किये ही कहा, ''चाबी टेबल पर है ।'' उन्होंने बिना कुछ कहे एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा दी, जिसे मैं कभी नहीं भूल सका । सियटल (अमेरिका) आश्रम में मैं तीस साल से रह रहा हूँ। यहाँ मैं हमेशा अपना कमरा बन्द करके ही बाहर जाता हूँ। कुछ लोग सोचते हैं कि यह पागलपन है। लेकिन मैं इसे स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिये करता हूँ, जिन्होंने लगभग ३४ वर्ष पूर्व मुझे यह मूल्यवान शिक्षा दी थी। **(क्रमश:)**

करुणा रस बरसाता चल

डॉ. दिलीप धींग

क्रूर बना मानव देखो तो, उजड़ा धरती माँ का आँचल ।
फिर से धरा चमन करने को, करुणा रस बरसाता चल।।
कभी यहाँ बहा करती थीं, घी-दूध की नदियाँ कलकल,
अब जल की नदियाँ भी सूखी,जल के लिए मची है हलचल।
धरती पर, धरती के अन्दर, सदा प्रवाहित हो शीतल जल।
फिर से धरा चमन करने को, करुणा रस बरसाता...
कटते जंगल, घटते जंगल, वन्यजीव आवास हुए कम।
दूषित परिवर्तित जलवायु मनमौजी विद्रोही मौसम।
पिघला अपना हृदय अन्यथा, हिमगिरी कहीं न जाए पिघल।
फिर से धरा चमन करने को, करुणा रस बरसाता...
चहचहाट नहीं चिड़िया की, घर में गौरैया नहीं आती।
कहाँ तितलियाँ रंग-बिरंगी, प्यारी बुलबुल गुनगुनाती?
धरती की रौनक लौटाए, पशु-पक्षियों की चहल-पहल।
फिर से धरा चमन करने को, करुणा रस बरसाता...
भीरत करुणा, बाहर करुणा, करुणा जीवन का विस्तार
सेवा, प्रेम, अहिंसा, संयम, सारा करुणा का परिवार।
यह परिवार बचाता सबको, दुख हरता है करता मंगल।
फिर से धरा चमन करने को, करुणा रस बरसाता...
जिसका हृदय भरा करुणा से, देख नहीं पाता संहार।
देख तड़पते-मरते प्राणी, उमड़ पड़े करुणा रसधार।
देवतुल्य करुणामय मानव, से भूषित होता है भूतल।
फिर से धरा चमन करने को, करुणा रस बरसाता...
कभी अचानक धरा काँपती, कभी गगन फट जाता है।
आँख मींचकर खोलें तब तक, सारा वैभव मिट जाता है।
नमन उन्हें जो घोर कष्ट में, परहित हेतु पड़े निकल।
फिर से धरा चमन करने को, करुणा रस बरसाता...
करुणा मानवता की थाती, यह नैतिकता का आधार।
सच्चे करुणामय जो होते, सब जीवों से करते प्यार।
शाकाहार और सदाचार का, पावन परचम फहराता चल।
फिर से धरा चमन करने को, करुणा रस बरसाता...

कर्म ही पूजा है

भगिनी निवेदिता

(भगिनी निवेदिता की १५० वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में उनके जीवन और सन्देश से सम्बन्धित यह लेखमाला 'विवेक ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ आरम्भ की गई है। – सं.)

'यथार्थ कार्य मौन के क्षणों में ही होता है', 'Real action is in silent moments' – इन कुछ शब्दों के द्वारा महान दार्शनिक उस गूढ़ सत्य को अभिव्यक्त करते हैं, जो हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हम जितना ही स्वयं को इस इन्द्रिय-जगत से विमुख करते हैं, उतने प्रमाण में हमारी ज्ञानशक्ति, कार्यशक्ति, सहन-शक्ति और आनन्द-प्राप्ति बढ़ती जाती है। ज्ञान, ऊर्जा और शान्ति का अनन्त भण्डार इन्द्रिय-प्रपंच की विपरीत दिशा में अवस्थित है। हम स्वयं को जितने प्रमाण में इन्द्रिय-प्रपंच से विमुख करेंगे, वह इस दिशा की ओर अग्रसर होने का मापदण्ड माना जाएगा। यही त्याग है और यही अनन्त आनन्द का पथ है।

मनुष्य के अन्दर मुक्ति की स्पृहा अदम्य है। यह वह प्रेरक शक्ति है, जो इस संसार रूपी चक्र को निरन्तर चलायमान रखती है। चाहे किसी भी रूप में यह व्यक्ति अथवा राष्ट्र को प्रेरित करे, किन्तु उनके प्रत्येक कार्यों के प्रेरणा-स्रोत के रूप में यह सदैव विद्यमान रहती है।

अनुभव हमें विवेकी बनाता है और इस सत्य के प्रति हमारी आँखें खोलता है कि इस द्वन्द्वात्मक जगत में मुक्ति की इच्छा एक निरी मूर्खता है। परिवर्तन और नाशवान इन्द्रिय-विषयों के पीछे भागना, केवल दुख के ऊपर दुख भोगना और बन्धन की बेड़ी में और कड़ियों को जोड़ना है। इससे हमें आनन्द तो मिलता है, किन्तु वह छल मात्र है।

वास्तविक जीवन तभी आरम्भ होता है, जब हम इन्द्रिय-जगत के प्रति मृत हो जाते हैं। जब हम इस मर्त्य जगत के प्रति सचमुच में अपरिचित होते हैं, तभी हम अमर हो जाते हैं। गीता कहती है – सम्पूर्ण प्राणियों के लिए जो रात्रि के समान है, उसमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है, और जिसमें सब प्राणी जागते हैं, तत्त्वविद् मुनि के लिए वह रात्रि के समान है।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि जिनका मन शारीरिक सुख से ऊपर नहीं उठ सकता, उनके लिए आध्यात्मिकता पागलपन के समान प्रतीत होगी। संसारासक्त व्यक्ति के लिए तो कवि अथवा वैज्ञानिक भी मानवजाति के विचित्र नमूने हैं। वे उनके ऊपर हँसते हैं और कहते हैं, 'वे अपना जितना समय स्वप्न देखने और व्यर्थ कार्यों में गँवा देते हैं, उतना समय वे इस संसार का जी-भर भोग कर सकते हैं।' केवल आध्यात्मिक व्यक्ति ही विश्व को धन्य कर सकता है, और कोई नहीं। हम चाहे कितनी ही सांसारिक सुविधाएँ प्राप्त क्यों न कर लें, चाहे कितना ही बौद्धिक सुखों की गहराई में क्यों न चले जाएँ, किन्तु जब तक शरीर में रोग का भय है, जब तक सभी प्राणियों पर कराल और निर्मम मृत्यु की विभीषिका है और सर्वोपरि जब तक हमारे अन्दर वासना की सर्वग्रासी उत्तेजना धधक रही है, तब तक हमारे लिए कोई सुख, शान्ति और विश्राम की सम्भावना नहीं है। महान धर्मगुरु हमें सिखाते हैं कि किस प्रकार हम स्वयं को इन्द्रिय-जगत से सदैव के लिए दूर रखें । वे उससे अनन्त गुनी अधिक महान वस्तु के प्रति हमें जाग्रत करते हैं। जब हम इस लाभ का मूल्यांकन करते हैं, तब हम उनके प्रति कृतज्ञता के भाव से अभिभूत हो जाते हैं। हमें अनुभव होता है कि बिना कुछ किए ही हमें अनमोल निधि प्राप्त हो गई है। क्या हम यह कह नहीं सकते कि आध्यात्मिक गुरु के द्वारा दी गई यह भेंट ही सर्वोत्तम भेंट है, जो एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति को प्रदान की जाती है? यह भेंट इन्द्रिय-जगत से पूर्णरूपेण विरक्त होने के परिणाम-स्वरूप प्राप्त होती है। यह महानतम कार्य है, क्योंकि यह पूर्ण-निष्कामता से उत्पन्न होता है।

बाह्य जगत के विसंगत तत्त्वों को विच्छेद करने से मन पूर्ण शान्त हो जाता है और शान्त मन के द्वारा साधक ईश्वर की प्रत्यक्ष सन्निधि को प्राप्त करते हैं। यह उनकी आत्मा को दैवी-प्रकाश से ओत-प्रोत कर देता है। प्रकृति की सब विकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं और साधक पवित्रता, प्रेम और धन्यता से एकरूप हो जाते हैं। ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो उनके प्रत्येक क्रिया-कलापों में प्रकट होने

वाले इन सद्गुणों को रोक सके । छोटे-बड़े सभी कार्यों में, भोजन करते हुए, चलते हुए, चिन्तन करते हुए अथवा धार्मिक प्रवचन में वे जहाँ कहीं भी हों, अपने चारों ओर शान्ति प्रसारित करते हैं।

ठीक ही कहा गया है कि साधन को सिद्धि से एकरूप समझना चाहिए। उदाहरण के तौर पर, जब व्यक्ति अपने इष्ट-देवता का ध्यान करे, तब वह अधिक से अधिक यह सोचने का प्रयत्न करे कि उसने सचमुच में इष्ट की प्राप्ति कर ली है, पूर्णता प्राप्त कर ली है और पूर्णत्व प्राप्त सन्त के नैतिक गुण उसके व्यक्तित्व के अंग बन गए हैं। उसके लिए कोई दुर्बलता नहीं, अपवित्रता नहीं, दुख नहीं और मृत्यु भी नहीं है। इसी तरह जो यथार्थ में कर्मयोगी बनना चाहता है उसे चाहिए कि वह अपनी चेतना को उन महान लोगों के स्तर तक ले जाए, जिसके विषय में आद्य शंकराचार्य काव्यमय ढंग से कहते हैं कि स्वयं भवसागर से पार हुए और अन्य मनुष्यों को भी तारते हुए शान्त सज्जन पुरुष वसंत ऋतु के समान लोकहित हेतु निवास करते हैं ।

यदि हम विश्व के महान धर्माचार्यों की चेतना की एक झलक प्राप्त कर लें, तो यह निधि हमारे लिए अनमोल होगी। अवश्य ही हम कर्म करें, क्योंकि यह हमारा स्वभाव है। किन्तु अपनी स्वाभाविक निम्न प्रवृत्तियों के प्रवाह में बह कर कर्म करना अपने बन्धन को अधिक दृढ़ करने के समान होगा। यदि सचमुच में इससे छूटने का कोई मार्ग है, तो वह कर्म के द्वारा ही है, क्योंकि हम कर्म के बिना नहीं रह सकते।

ईश्वर-प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं। कुछ लोगों के लिए कोई मार्ग अन्य मार्गों की अपेक्षा अधिक सहज हो सकता है। किन्तु कोई भी मार्ग गुलाब के फूलों से बिछाया हुआ नहीं है। प्रत्येक मार्ग की अपनी-अपनी कठिनाइयाँ हैं। जो लोग स्वयं को सभी कर्मों से विच्छेद नहीं कर सकते, उनके लिए कर्मयोग अन्य योगों से अपेक्षाकृत अधिक सहज हो सकता है। किन्तु इस मार्ग की भी अपनी बाधाएँ हैं। हम बिना अधिक कठिनाई के निरन्तर कर्म कर सकते हैं, किन्तु जब हम कर्मयोग की दृष्टि से कर्म करना आरम्भ करते हैं, तब हर मोड़ पर हमें अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। किन्तु तब भी एक परिचित आवाज हमारे हृदय के अन्तस्तल से सुनाई देती है कि हम इन बाधाओं से अधिक शक्तिशाली हैं और यदि हम स्वयं के प्रति निष्ठावान और सत्यवादी हैं, तो अवश्य हम इन बाधाओं को पराजित करेंगे। महान आचार्यों के उपदेश भी हमारी सहायता करते हैं और हमारे निराश मन को स्फूर्त करते हैं, जिन्हें सुनकर हम आत्मविश्वास से भर जाते हैं। किन्तु इस युद्ध का सामना हमें ही करना है। युद्ध नहीं, तो विजय नहीं और पुरुषार्थ नहीं, तो सफलता नहीं। शत्रु को जीतने के लिए हमें उसकी शक्ति से परिचित होना चाहिए। यदि हम बाधाओं से परे होना चाहते हैं, तो हमें उनके स्वभाव के विषय में पूरी जानकारी होनी चाहिए। एक कहावत है कि 'पूर्व-सजग होना ही शस्त्र-सज्ज होना है, Forewarned is forearmed।

कर्मयोग की सबसे बड़ी समस्या यह है कि व्यक्ति सकाम कर्म की ओर च्युत हो जाता है। हम कर्म के द्वारा अपनी स्वाभाविक लालसा को पूरी कर रहे हों और साथ में यह भी सोच रहे हों कि हम कर्मयोग कर रहे हैं। किसी भी कार्य के द्वारा जब हमें सफलता प्राप्त होती है अथवा हमारी स्वाभाविक कर्म-इच्छा तुष्ट होती है, तो वह हमारे मन में एक संतोष का भाव उत्पन्न करती है, जिसे हम आसानी से धार्मिक शान्ति मानने की भूल कर सकते हैं। ठीक-ठीक गीता का अध्ययन करने पर एक विचार हमारे सामने उपस्थित होता है कि हम कर्तव्य के त्याज्य और ग्राह्य सम्बन्धी विचारों से ऊपर उठें, जो कर्मयोग का मूल सिद्धान्त है। प्रिय के लिए आकर्षण और अप्रिय के लिए घृणा, यह मानवीय स्वभाव का अभिन्न अंग है। किन्तु क्या यही सभी प्रकार के दुख, अज्ञान और अशुभ की जड़ नहीं है? अत: कर्मयोगी को इन सभी अनर्थों से दृढ़तापूर्वक परे जाने की शिक्षा दी जाती है। उसे अपनी प्रकृति का स्वामी होना है, उसका दास नहीं। मनुष्य को देवत्व तक पहुँचना है।

सचमुच में कितना दुष्कर कार्य है यह ! यदि हम अपने मन की गतिविधियों का निरीक्षण करें, तो हम पाते हैं कि नैतिकता की आड़ में भयंकर शत्रु कैसे क्षण-क्षण हमें ठगने का प्रयास करते हैं। यदि एक क्षण के लिए भी हम असावधान रहें, तो हम उनके चंगुल में आ जाते हैं, फिसल जाते हैं। एक गलती से दूसरी गलती होती है और हम नहीं जानते कि पल भर की असावधानी का क्या परिणाम होगा।

यदि हम निष्ठापूर्वक उपरोक्त कर्मयोग के सिद्धान्त का अभ्यास करने का प्रयास करते हैं, तो हमें समझ में आता है कि इन्द्रिय-प्रपंच के आकर्षण को कम किए बिना ऐसा कर पाना असम्भव है। यदि सांसारिक वस्तुएँ हमारे लिए

वास्तविक सत्य हैं, तो उनसे प्रभावित होकर हम अपनी सहायता कैसे कर सकते हैं? ठीक ही कहा गया है, 'जहाँ तुम्हारी अमूल्य वस्तु की निधि होगी, वहीं तुम्हारा मन होगा, Where your treasure is, there will your heart be also। यदि हम सोचते हैं कि सांसारिक वस्तुएँ मूल्यवान हैं, तो उनका दास बनने से हमें कौन रोक सकता है?

पुन: मन का स्वभाव ही है कि वह स्वयं को इन्द्रिय-प्रपंच से तब तक दूर नहीं कर सकता, जब तक कि वह यह नहीं देख लेता कि इससे भी महानतर, अधिकाधिक वास्तविक, संसार से अधिक तुष्ट करने वाली भी कोई वस्तु है। अन्य शब्दों में कहा जाए कि जब तक वह उस परम सत्ता का ध्यान नहीं करता, जो सभी जीवन, ज्ञान और आनन्द का मूल है। ईश्वर को केन्द्र में रखकर ही हम जीवन के अशुभ से अप्रभावित रह सकते हैं। अपने कार्य को पूजा में परिवर्तित कर सकते हैं। दूसरों की वास्तविक भलाई कर सकते हैं। जब हमारी चेतना ईश्वरीय प्रकाश से ओत-प्रोत होगी, तब जगत ईश्वर की अभिव्यक्ति हो जाएगा। किन्तु हम उस ईश्वर का कैसे ध्यान कर सकते हैं, जब तक हमारा हृदय उनके प्रति दृढ़ आकर्षित नहीं होता अथवा जब तक हमें उनसे प्रेम नहीं होता?

अत: हम देखते हैं कि यथार्थ कर्मयोगी को पूर्णत: पवित्र, ध्यान-परायण और ईश्वर-परायण होना चाहिए। ये सब एक साथ होने चाहिए, क्योंकि धर्म से सर्वांगीण विकास होता है। यहाँ भी मार्गदर्शन के लिए हमें गीता की आवश्यकता होती है। ○○○

पृष्ठ ४८० का शेष भाग

बात कही थी ।''

''परन्तु मैंने तो उसे बड़ी गम्भीरता से लिया । मुझे तो उस साँड़ से ही मेरा चाहा हुआ सब कुछ मिल गया, क्योंकि क्या वह ईश्वर सर्वत्र विद्यमान नहीं है?''

इस प्रकार वह साँड़ एक प्रतीक था । उस व्यक्ति ने उस साँड़ की अपने प्रतीक, अपने ईश्वर के रूप में उपासना की और उसी से उसे सब कुछ प्राप्त हो गया । इसलिये वह प्रबल प्रेम, वह व्याकुलता सब कुछ प्रकट कर देती है । सब कुछ हमारे भीतर ही विद्यमान है और बाह्य जगत् तथा बाह्य रूपों की पूजा उसकी ओर संकेत करते हुए उसे प्रकट कर देती है । जब वे प्रबल हो उठती हैं, तो हमारे भीतर स्थित ईश्वर जाग्रत हो जाता है । [CW. 9:229-230]

बीती बातें बीते पल

प्रार्थना कभी विफल नहीं होती

भगवान श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरंग संन्यासी शिष्य स्वामी शिवानन्द (महापुरुष महाराज) उस समय रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के संघाध्यक्ष थे। यह बात सम्भवत: १९२३-२४ की होगी।

एक भक्त के पुत्र का जन्म ८ महीने में हुआ। प्रतिकूल वैद्यकीय परिस्थितियों में जन्म होने से अनेक डॉक्टरों ने उसके जीने की आशा छोड़ दी थी। महापुरुष महाराज उस समय भवानीपुर के गदाधर आश्रम में थे। कोई उपाय न देखकर उस भक्त की वृद्ध माता महापुरुष महाराज के पास पहुँची। उसका दृढ़ विश्वास था कि महाराज के आशीर्वाद और उनकी चरण धूलि के स्पर्श से उसका पुत्र ठीक हो जाएगा।

आश्रम पहुँचकर वृद्धा ने अपना हाल महापुरुष महाराज को कह सुनाया। उस शिशु के माँ की गर्भावस्था में महापुरुष महाराज से दीक्षा हो गई थी। महापुरुष महाराज ने शान्तिपूर्वक सब सुनकर अभयवाणी में कहा, ''यह लड़का नहीं मर सकता। जिस काले नाग का विष (महामन्त्र) उसके पेट में पहुँचा है (मन्त्रदीक्षा की बात का स्मरण कर), उससे उसे चट्टान पर पटक देने से भी उसका बाल बाँका न होगा। माता, तुम चिन्ता न करो। श्रीठाकुर की कृपा से वह अच्छा हो जाएगा।''

इस प्रकार अभय वरदान प्राप्त कर वृद्धा उनकी चरणधूलि लेने के लिए आगे बढ़ी। महापुरुष महाराज उस समय गलीचा बिछे हुए दोमंजिले पर अपने कक्ष में मोजा पहने बैठे थे। वृद्धा को चरणधूलि लेने के लिए आगे आते देखकर उन्होंने परिहास करते हुए कहा, ''पैर में धूल कहाँ है कि लोगी?'' वृद्धा अपना आँचल फैलाकर भक्ति के साथ उनके दोनों चरणों का स्पर्श कराकर बोली, ''इसी से हो जाएगा बाबा !'' महापुरुष महाराज वृद्धा का यह भाव देखकर और उसकी बात सुनकर बालक की तरह हँसने लगे।

उनके आशीर्वाद से वह मृतप्राय शिशु धीरे-धीरे रोगमुक्त होकर स्वाभाविक रूप से बढ़ने लगा और पूरी तरह स्वस्थ हो गया। महापुरुष महाराज प्राय: कहा करते थे, ''प्रार्थना कभी विफल नहीं होती, सचमुच ही मैंने अनुभव किया है कि हार्दिक प्रार्थना का फल अवश्य मिलता है। व्याकुल होकर खूब प्रार्थना करो, देखना वह कभी निष्फल नहीं जाएगी, उनकी दया अवश्य होगी।'' ○○○

जो सहता है वह रहता है, जो नहीं सहता वह ढहता है

सीताराम गुप्ता, दिल्ली

नगर के मुख्य चौक का जीर्णोद्धार और सौंदर्यीकरण किया जा रहा था। मजदूर, कारीगर, शिल्पी तथा अभियन्ता सभी अपने-अपने कार्यों में लगे थे। चौक के बीचोबीच एक भव्य और आकर्षक कलाकृति लगाने का प्रस्ताव था। ऐसी कलाकृति जो भव्य और आकर्षक हो, जो नगर को एक नई पहचान दे सके। कलाकृति के निर्माण के लिये कई बड़े-बड़े शिलाखंड रखे थे। मुख्य शिल्पी ने कलाकृति के निर्माण के लिए दो बेहतरीन शिलाखंडों का चुनाव किया। एक दिन उन दोनों में जो अच्छा शिलाखंड था, उस पर कार्य आरम्भ करने के लिए जैसे ही शिल्पी ने छेनी रखकर हथौड़े से पहला प्रहार किया, शिलाखंड टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया। तब शिल्पी ने दूसरे शिलाखंड की जाँच के लिये उस पर पहले से कुछ अधिक जोर से प्रहार किया, ताकि यदि यह भी कमजोर हो, तो पहले ही पता चल जाए। लेकिन यह शिलाखंड महीनों तक शिल्पी के औजारों की चोट-पर-चोट खाकर बिना टूटे बिखरे लगातार सँवरता गया और अन्ततः एक आकर्षक कलाकृति में परिवर्तित हो गया।

जो पत्थर प्रहार नहीं सहकर पहली ही चोट में टूट कर बिखर गया, वह किसी काम का न रहा। उसे कूट-पीट कर फर्श के नीचे दबा दिया गया और उसके ऊपर मजबूत फर्श व उस पर एक कलात्मक पीठिका बनाकर दूसरे वाले पत्थर से निर्मित कलाकृति को उस पर स्थापित कर दिया गया। सभी लोग उस सुन्दर कलाकृति को देखकर आनन्दित होते, उसके आसपास बैठे रहते और उसके साथ खड़े होकर सेल्फी लेते।

हमारे जीवन की भी यही वास्तविकता है। जो सहता है, वह शान से सिर उठाकर रहता है और जो नहीं सहता या नहीं सह सकता, वह ढहकर कालान्तर में मिट्टी में मिल जाता है। उसका नामोनिशान भी कहीं दिखलाई नहीं पड़ता। जो इस संसार में निरन्तर दुख-कष्ट सहते हुए अडिग बना रहता है, वही अपनी लक्ष्यप्राप्ति में सफल होता है। वह स्वयं विजेता बनकर दूसरों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत बनता है। लेकिन क्या पत्थर से आदमी की तुलना करना उचित है? आदमी पत्थर नहीं है। पत्थर निर्जीव है। वह सह सकता है। आदमी के सहने की एक सीमा होती है।

हाँ, पत्थर पत्थर होता है। वह सह सकता है, लेकिन आदमी उससे अधिक सह सकता है। किन्तु हर व्यक्ति नहीं सहता, क्योंकि वह अपनी सहनशक्ति और उससे होने वाले लाभ से पूर्णतः अवगत नहीं होता है। हर पत्थर की एक विशेष रासायनिक संरचना होती है, जो उसे अच्छा या बुरा, कोमल या कठोर अथवा आकर्षक या बदरंग बना देती है। इस पर उसका कोई वश नहीं होता। एक तो निर्जीव पत्थर की कोई इच्छा नहीं होती। यदि वह चाहे भी, तो दुर्बल होने से अपनी विशिष्ट संरचना के कारण हल्के से आघात से बिखर जाना उसकी विवशता है। व्यक्ति जड़ नहीं होता है। वह चोट सह सकता है। वैसे भी उस पर कोई छेनी-हथौड़े से प्रहार नहीं करता। मनुष्य पर प्रहार प्रायः उसकी मानसिकता अथवा वैचारिकता पर होते हैं। चूँकि मनुष्य पत्थर नहीं चेतन है, इसलिए वह अपने मन को परिस्थितियों के अनुसार सबल करके उनका भलीभाँति सामना कर सकता है।

जब मनुष्य का मन दुर्बल होता है, उसमें साहस, धैर्य व सकारात्मकता का अभाव होता है, तभी किसी भी प्रकार के बाहरी आक्रमण सफल होते हैं। यदि एक बार व्यक्ति का मन साहस से भर जाए, तो कोई बाहरी आघात उस पर प्रभावी नहीं होगा। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को बाहरी आघातों को सहने के लिए तैयार करे। मन को सबल और सकारात्मक बनाए। ऐसे में उसे एक प्रभावशाली व सफल व्यक्तित्व रूपी कलाकृति बनने से कोई नहीं रोक सकता। व्यक्ति अपने भाग्य का स्वयं निर्माण कर सकता है। वह अपनी मानसिक गठन का नियन्ता स्वयं है। वह अपनी ऐसी मानसिकता निर्मित कर सकता है, जो जीवन में कठिन-से-कठिन परिस्थितयाँ भी उसे विचलित न कर सके।

विषम परिस्थितियाँ एवं दुख-कष्ट मनुष्य का परिष्कार करने में सक्षम होते हैं। अपनी सकारात्मक मानसिक अवस्था द्वारा वह अनुकूल परिस्थितियों का सृजन कर संघर्षों में पल कर अतीव सफलता प्राप्त कर सकता है। तो क्या जीवन में कुछ बनने के लिए हम विषम परिस्थितियों अथवा कष्टों की कामना करें? उन्हें आमन्त्रित करें? हम स्वयं जीवन में कभी भी विषम परिस्थितियों या कष्टों की कामना नहीं करते। यह स्वाभाविक भी नहीं है। यह तो 'आ बैल मुझे मार' वाली बात हो जाएगी। लेकिन जब कोई विपत्ति आ पड़े, तो निराश होने की बजाय धैर्यपूर्वक उसका मुकाबला अवश्य करें। विपत्ति रूपी अग्नि में ही जीवन रूपी स्वर्ण तप कर शुद्ध होता है। चोट सह कर सुन्दर आकार पाता है। इस प्रक्रिया में वह आकर्षक ही नहीं बनता, अपितु व्यक्ति व समाज के लिए उपयोगी भी बनता है। ○○○

काकड़ीघाट, अलमोड़ा में विवेकानन्द ज्ञानवृक्षारोपण

स्वामी विवेकानन्द जी को १८९० की हिमालय की यात्रा के दौरान काकड़ी घाट में कोसी के किनारे जिस पीपल पेड़ के नीचे अणु-ब्रह्माण्ड और विश्व-ब्रह्माण्ड की एकता का बोध हुआ था, वह पेड़ २०१३ में सूख गया था। उस पेड़ के सूखने के पहले ही विवेकानन्द कृषि अनुसन्धान संस्थान, अलमोड़ा और पन्तनगर कृषि विश्वविद्यालय के कुशल वैज्ञानिक डॉ. सलिल तिवारी की देख-रेख में मूल वृक्ष का क्लोन (प्रतिरूप) तैयार किया गया । उस क्लोन वृक्ष का उसी स्थान पर रोपण हरेला पर्व के दिन १५ जुलाई, २०१६ को रामकृष्ण मठ-मिशन के न्यासी स्वामी बलभद्रानन्द जी ने किया। रामकृष्ण कुटीर, अलमोड़ा के स्वामी सोमदेवानन्द जी, डॉ. दिवा भट्ट, डी. एम. सविन बंसल, मोहन सिंह मनराल आदि उपस्थित थे।

रामकृष्ण सेवा समिति आश्रम, कोनी, बिलासुर में १९ जुलाई को गुरुपूर्णिमा के उपलक्ष्य में मंदिर में व्याख्यान हुए। २० जुलाई, २०१६ को मूक बधिर संस्था आनन्द निकेतन और २१ को शासकीय श्रवण बधिर और अन्ध विद्यालय, बिलासपुर में स्वामी प्रपत्त्यानन्द, स्वामी एकात्मानन्द और श्री सतीश द्विवेदी जी के व्याख्यान हुए।

रामकृष्ण-विवेकानन्द विद्यापीठ बिजुरी में कार्यक्रम

क्षेत्रीय युवा-सम्मेलन का आयोजन

रामकृष्ण सेवा समिति आश्रम, कोनी, बिलासपुर द्वारा संचालित रामकृष्ण-विवेकानन्द विद्यापीठ, बिजुरी ने २३ और २४ जुलाई, २०१६ को विद्यापीठ का १८वाँ स्थापनोत्सव बड़े व्यापक रूप से विभिन्न कार्यक्रमों के द्वारा मनाया। बिजुरी जैसे दूरवर्ती स्थान में वहाँ 'सेल' (एस.इ.सी.एल) के कर्मचारियों के बच्चों और स्थानीय लोगों के बच्चों को नैतिक, आध्यात्मिक, आधुनिक तकनीकि स्तर से शिक्षा प्रदान करने के १९९९ में सेल के आर्थिक सहयोग से इस विद्यापीठ की स्थापनी की गयी। तत्कालीन 'सेल' के जनरल मैनेजर की इच्छा थी कि बच्चों को नैतिक, आध्यात्मिक और भौतिक शिक्षा दी जाय, जिससे बच्चे सदाचारी और स्वावलम्बी होकर सुखी-समृद्ध एवं सम्मानित जीवन जी सकें। इस कठिन चुनौती को रामकृष्ण सेवा समिति आश्रम, बिलासपुर ने स्वीकार किया और रामकृष्ण-भावधारानुसार स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा पद्धति से १८वर्षों से सेवा करता चला आ रहा है। यहाँ के बच्चें क्रीड़ा, सांस्कृतिक कार्यक्रम और शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय स्तर पर अपना कीर्तिमान बनाए हुए हैं। उस क्षेत्र के अन्य विद्यालयों के बच्चे भी स्वामी विवेकानन्द की शिक्षानुसार अपना चरित्र गठित कर सकें, इसलिये आश्रम ने २३ जुलाई को क्षेत्रीय युवा सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें विभिन्न विद्यालयों के लगभग ५०० छात्रों ने भाग लिया। रामकृष्ण मठ-मिशन के न्यासी और रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष स्वामी सर्वभूतानन्द जी, रामकृष्ण मिशन, इन्दौर के सचिव स्वामी निर्विकारानन्द जी, रामकृष्ण विवेकानन्द आश्रम, अम्बिकापुर के सचिव स्वामी तन्मयानन्द जी, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी, 'सेल', बिलासपुर के मैनेजर श्री गोपेश द्विवेदीजी, विद्यापीठ के निदेशक श्री सुरेश चन्द्राकर जी एवं श्री सतीश द्विवेदी जी ने बच्चों को सम्बोधित किया।

क्षेत्रीय शिक्षक और अभिभावक सम्मेलन का आयोजन

२४ जुलाई, २०१६ को रामकृष्ण-विवेकानन्द विद्यापीठ, बिजुरी द्वारा क्षेत्रीय शिक्षक और अभिभावक सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसमें कई विद्यालयों के लगभग ३०० लोगों ने भाग लिया। बच्चों के चरित्र-निर्माण में शिक्षकों और अभिभावकों का योगदान पर केन्द्रित इस कार्यक्रम में सरस्वती शिशु मन्दिर, बिजुरी के प्रभारी श्री अजय शुक्ला, समाजसेवक श्री जे. पी. श्रीवास्तव, सेन्ट जोसेफ कान्वेन्ट की प्राचार्या सिस्टर रश्मी बंसल और उपरोक्त सभी संन्यासियों ने व्याख्यान दिये। दोनों दिन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी के संदेश पढ़े गये। सभी अतिथियों का परिचय रामकृष्ण सेवा समिति आश्रम, कोनी, बिलासपुर के सचिव श्री सतीश कुमार द्विवेदी और धन्यवाद ज्ञापन सुरेश चन्द्राकर जी ने किया। अन्त में सभी वक्ताओं को विद्यापीठ के प्राचार्य एस. आर. सिंह द्वारा स्मृतिचिह्न प्रदान किया गया। छात्र-छात्राओं ने तबला वादन, नृत्य और गीत प्रस्तुत किये। मंच संचालन श्रीमती गायत्री देवी और कार्यक्रम संयोजन श्री अखिलेश कुमार सिंह ने किया। ○○○